विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

मकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९७४ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

—।०।—

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द
[ओकलण्ड, सैन फ्रांसिस्को (अमेरिका) में, फरवरी १९००]

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १२] जनवरी - फरवरी - मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७४ ★ एक प्रति का १।)

मुक्ति के साधन

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्

पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।

विमुक्ति-सौधाग्रलताधिरोहणं

ताभ्यां विना नान्यतरेण सिद्ध्यति ॥

—हे बुद्धिमान् ! तुम विवेक और वैराग्य को मनुष्य के लिए पक्षी के दो पंख के समान जानो । जब तक ये दोनों नहीं हैं, तब तक इनमें से केवल एक के द्वारा अट्टालिका की चोटी पर उपजने-वाली मुक्तिरूपी लता पर चढ़ना किसी के लिए सम्भव नहीं है ।

—विवेकचूड़ामणि, ३७४

गर्वहारी जनार्दनः

एक समय की बात है, नारद मुनि के मन में गर्व का प्रवेश हुआ और वे सोचने लगे कि उनसे बढ़कर भगवान् का भक्त और कोई नहीं है। भगवान् तो अन्तर्यामी हैं; वे नारद का मनोभाव भाँप गये। वे तो भक्तों के गर्व का हरण करते हैं, वही उनका आहार है। अतः नारद के गर्व को दूर करने की इच्छा से भगवान् ने उनसे कहा, "नारद ! तुम अमुक स्थान पर जाना। वहाँ मेरा एक परम भक्त निवास करता है। जाकर उससे मेल-जोल बढ़ाना। सचमुच ही वह मेरी बड़ी भक्ति करता है।"

नारद वहाँ गये। देखा कि वहाँ एक किसान है। वह बड़ी सुबह उठता है, केवल एक बार 'हरि' नाम का उच्चारण करता है और अपना हल लेकर खेत में चला जाता है। वहाँ सारा दिन खेत जोतता रहता है। रात में सोने के पहले एक बार फिर से 'हरि' नाम का उच्चारण करता है और सो जाता है। नारद को इस किसान में कोई विशेषता नहीं दिखी। वे अपने मन में विचार करने लगे--'यह गँवार भला भगवान् का भक्त कैसे हो सकता है ? यह तो सारा दिन संसार के झमेले में फँसा रहता है। इसमें साधुता के कोई लक्षण भी नहीं दिखायी देते। फिर कैसे भगवान् ने इसे अपना परम भक्त कह दिया ?' यह सोचकर नारद भगवान् के पास लौट आये और उनसे अपने हृदय की सारी बातें कह दीं। अपने इस नवीन परिचित किसान के सम्बन्ध में भी

उन्होंने अपना अभिमत प्रकट कर दिया। इस पर भगवान् बोले, "नारद! एक काम करो। तेल से भरी यह कटोरी लो और इस नगर की परिक्रमा करके लौट आओ। पर ध्यान रखो कि एक बूँद तेल भी कटोरी से न छलक पाये।"

नारद ने श्रीभगवान् के निर्देशानुसार कार्य किया। वे तेल से भरी कटोरी हाथ में ले नगर की परिक्रमा कर आये। उनके लौटने पर भगवान् ने उनसे पूछा, "अच्छा नारद! यह तो बताओ, नगर की प्रदक्षिणा करते समय तुमने कितनी बार मेरी याद की?" नारद बोले, "सो तो भगवन्! एक बार भी नहीं। और फिर आपकी याद भी भला कैसे कर सकता था? सारे समय मैं तो तेल से लबालब भरी इस कटोरी पर ही अपना ध्यान जमाये हुए था कि कहीं तेल छलक न जाय।" तब श्रीभगवान् बोले, "देखो नारद! तेल की इस एक कटोरी ने ही तुम्हारा ध्यान इतना खींच लिया कि तुम-जैसा मेरा भक्त भी मुझे पूरी तरह बिसार बैठा! किन्तु इस किसान की ओर देखो, भले वह गँवार है, पर अपने सिर पर परिवार का भारी बोझ उठाता हुआ भी दिन में कम से कम दो बार तो मेरा स्मरण करता है!"

नारद की आँखें खुल गयीं। उन्होंने जान लिया कि उनके भीतर अहंकार पैदा हो गया था और उसे दूर करने के लिए ही भगवान् ने यह योजना रची थी। वे प्रभु के चरणों पर गिर पड़े।

*

अग्नि-मंत्र

(मद्रासी शिष्यों को लिखित)

द्वारा जार्ज डब्ल्यू० हेल,
५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो
२४ जनवरी, १८९४

प्रिय मित्रो,

मुझे तुम्हारे पत्र मिले। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मेरे सम्बन्ध में इतनी अधिक बातें तुम लोगों तक पहुँच गयीं। 'इण्टीरियर' पत्रिका की आलोचना के बारे में तुम लोगों ने जो उल्लेख किया है, उसे अमेरिकी जनता का रुख न समझ बैठना। इस पत्रिका के बारे में यहाँ के लोगों को प्रायः कुछ मालूम नहीं, और वे इसे 'नील नाकवाले प्रेसबिटेरियनों' की पत्रिका कहते हैं। यह बहुत ही कट्टर सम्प्रदाय है। किन्तु ये 'नील नाकवाले' सभी लोग दुर्जन हैं, ऐसी बात नहीं है। अमेरिका-निवासीगण एवं बहुत से पादरीगण मेरा बहुत सम्मान करते हैं। जिसका सम्मान कर लोग आदर कर रहे हैं, उस पर कीचड़ उछालकर प्रसिद्धि-लाभ करने के इरादे से ही इस पत्र ने ऐसा लिखा था। ऐसे छल को यहाँ के लोग खूब समझते हैं एवं इसे यहाँ कोई महत्त्व नहीं देता; किन्तु भारत के पादरीगण अवश्य ही इस आलोचना का लाभ उठाकर बदनाम करने का प्रयत्न करेंगे। यदि वे ऐसा करें, तो उन्हें कहना—'हे यहूदी! याद रखो,

तुम पर ईश्वर का न्याय घोषित हुआ है !' उन लोगों की पुरानी इमारत की नींव भी ढह रही है; पागल के समान वे चीत्कार करते रहे हैं। उनका नाश अवश्यम्भावी है। उन पर मुझे दया आती है कि प्राच्य धार्मिक भावों के यहाँ अत्यधिक प्रवेश के कारण भारत में मौज से जीवन बिताने के उनके साधन कहीं क्षीण न हो जायँ। किन्तु इनके प्रधान पादरियों में से एक भी मेरे विरोधी नहीं। खैर, जो भी हो, जब तालाब में उतरा हूँ, अच्छी तरह से स्नान करूँगा ही।

उन लोगों के समक्ष अपने धर्म की रूप-रेखा का जो संक्षिप्त विवरण मैंने पढ़ा था, उसे एक समाचार-पत्र से काटकर भेज रहा हूँ। मेरे अधिकांश भाषण बिना तैयारी के होते हैं। आशा है, इस देश से वापस जाने के पहले उन्हें पुस्तक के रूप में तैयार कर सकूँगा। भारत से किसी प्रकार की सहायता की मुझे आवश्यकता नहीं, यहाँ सब प्रचुर है। वरन् तुम लोगों के पास जो धन है, उससे इस संक्षिप्त भाषण को छापकर प्रकाशित करो एवं भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवाद कराकर चारों तरफ इसका प्रचार करो। इससे हमारे देश का मानस-पटल हम लोगों के समक्ष स्पष्ट होगा। साथ ही एक केन्द्रीय महाविद्यालय एवं उससे भारत की चारों दिशाओं में शाखाएँ स्थापित करने की हमारी योजना को न भूलना। सहायता-लाभ के लिए यहाँ मैं प्राणपण से प्रयत्न कर रहा हूँ, तुम लोग भी वहाँ प्रयत्न करो। खूब मेहनत

से कार्य करो।...

जहाँ तक अमेरिकी महिलाओं का प्रश्न है, उनकी कृपा के लिए अपनी कृतज्ञता प्रकट करने में मैं असमर्थ हूँ। भगवान् उनका भला करे। इस देश के प्रत्येक आन्दोलन की प्राण महिलाएँ हैं और वे राष्ट्र की समस्त संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं, क्योंकि पुरुष तो अपने ही शिक्षा-लाभ में अत्यधिक व्यस्त हैं।

किडी के पत्र मिले। जातियाँ रहेंगी या जायेंगी, इस प्रश्न से मुझे कुछ मतलब नहीं है। मेरा विचार है कि भारत और भारत के बाहर मनुष्य-जाति में जिन उदार भावों का विकास हुआ है, उनकी शिक्षा गरीब से गरीब और हीन से हीन को दी जाय और फिर उन्हें स्वयं विचार करने का अवसर दिया जाय। जात-पाँत रहनी चाहिए या नहीं, महिलाओं को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए या नहीं, मुझे इससे कोई वास्ता नहीं। 'विचार और कार्य की स्वतंत्रता ही जीवन, उन्नति और कुशल-क्षेम का एकमेव साधन है।' जहाँ यह स्वतंत्रता नहीं है, वहाँ मनुष्य, उस जाति या राष्ट्र की अवनति निश्चय होगी।

जात-पाँत रहे या न रहे, सम्प्रदाय रहे या न रहे, परन्तु जो मनुष्य या वर्ग, जाति, राष्ट्र या संस्था किसी व्यक्ति के स्वतंत्र विचार या कर्म पर प्रतिबन्ध लगाती है--भले ही उससे दूसरों को क्षति न पहुँचे, तब भी--वह आसुरी है और उसका नाश अवश्य होगा।

जीवन में मेरी सर्वोच्च अभिलाषा यही है कि एक

ऐसा चक्र-प्रवर्तन कर दूँ, जो उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वार द्वार पहुँचा दे और फिर स्त्री-पुरुष अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें। हमारे पूर्वजों तथा अन्य देशों ने भी जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है, यह सर्वसाधारण को जानने दो। विशेषकर उन्हें यह देखने दो कि और लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें अपना निर्णय करने दो। रासायनिक द्रव्य इकट्ठे कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे कोई विशेष आकार धारण कर लेंगे। परिश्रम करो, अटल रहो और भगवान् पर श्रद्धा रखो। काम शुरू कर दो। देर-सबेर मैं आ ही रहा हूँ। 'धर्म को बिना हानि पहुँचाये जनता की उन्नति'—इसे अपना आदर्श-वाक्य बना लो।

याद रखो कि राष्ट्र झोपड़ी में बसा हुआ है; परन्तु शोक! उन लोगों के लिए कभी किसी ने कुछ किया नहीं। हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं के पुनर्विवाह कराने में बड़े व्यस्त हैं। निश्चय ही मुझे प्रत्येक सुधार से सहानुभूति है; परन्तु राष्ट्र की भावी उन्नति विधवाओं को अधिकाधिक पति मिलने पर निर्भर नहीं, वरन् 'आम जनता की अवस्था' पर निर्भर है। क्या तुम जनता की उन्नति कर सकते हो? क्या उनका खोया हुआ व्यक्तित्व, बिना उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक वृत्ति नष्ट किये, उन्हें वापस दिला सकते हो? क्या समता, स्वतंत्रता, कार्य-कौशल, पौरुष में तुम

पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो ? क्या उसी के साथ साथ धर्म-विश्वास, संस्कृति और स्वाभाविक वृत्ति में हिन्दुओं की परम मर्यादा पर जमे रह सकते हो ? यह काम करना है और हम इसे करेंगे ही। तुम सबने इसी के लिए जन्म लिया है। अपने में विश्वास रखो। महान् विश्वास महत् कार्यों के जनक हैं। हमेशा बढ़ते चलो। मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति--यही हमारा आदर्श-वाक्य है। वीर युवको ! बढ़े चलो !

शुभाकांक्षी,

विवेकानन्द

दुर्भाग्य की बात है कि अधिकांश व्यक्ति इस जगत् में बिना किसी आदर्श के ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते हैं। जिसका एक निर्दिष्ट आदर्श है, वह यदि एक हजार भूलें करे, तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं, वह दस हजार भूलें करेगा। अतएव एक आदर्श रखना अच्छा है।

--स्वामी विवेकानन्द

मन और उसका निग्रह

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

२६. विचार-सयम का रहस्य

ऊपर में साधनाओं के जो दो प्रकार बताये गये, उनका जब समुचित अभ्यास किया जाता है, तो वे मन के चेतन स्तर की बागडोर अपने हाथ में ले लेते हैं और साथ ही परोक्षरूप से अवचेतन के संयम में भी सहायता प्रदान करते हैं। आपत्कालीन स्थितियों के लिए जो विशेष साधनाएँ बतलायी गयी हैं, उनका समुचित फल तभी प्राप्त होगा, जब हम मूलभूत संयम के सामान्य अनुशासनों का नियमित रूप से अभ्यास करते हैं।

सामान्य अनुशासनों में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है विचार का संयम। जो अपनी विचारधारा को मोड़ना जानता है, वह मन के संयम का उपाय भी जान लेगा।

हम अपने विचारों का संयम कैसे करते हैं ?

विचार-संयम का अर्थ यह नहीं कि प्रारम्भ से ही मन में कोई विचार न रहे। विचारहीन अवस्था एक अनर्थकारी अवस्था भी हो सकती है। प्रारम्भिक अवस्था में विचार-संयम का तात्पर्य है अच्छे विचारों को प्रयत्न-पूर्वक मन में उठाने की क्षमता का विकास करना तथा असत् या गलत विचारों को मन में उठने देने से रोक देना।

अपने एक उपदेश में विचार-संयम पर कुछ विस्तार से चर्चा करने के बाद बद्ध ने सारांश में कहा——

भिक्खुओ ! स्मरण रखो, गलत विचारों पर विजयी बनने का एकमात्र रास्ता यह है कि हम समय-समय पर मन के विभिन्न पहलुओं का अवलोकन करते रहें, उन पर मनन करें; जो अशुभ हैं उनको जड़ से निकाल दें और शुभ का सर्जन करें। †

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं——

हम अभी जो कुछ हैं, वह सब अपने चिन्तन का ही फल है। इसलिए तुम क्या चिन्तन करते हो इस विषय में विशेष ध्यान रखो। शब्द तो गौण वस्तु हैं। चिन्तन ही बहुकाल-स्थायी है और उसकी गति भी बहुदूरव्यापी है। हम जो कुछ भी चिन्तन करते हैं, उसमें हमारे चरित्र की छाप लग जाती है, इस कारण साधु-पुरुषों की हँसी और गाली में भी उनके हृदय का प्रेम और पवित्रता रहती है और उससे हमारा कल्याण ही होता है। ‡

यह जो 'तुम क्या चिन्तन करते हो इस विषय में, विशेष ध्यान' रखना है, वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि हमें उसकी विधि अवश्य जान लेनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, हम यह सीख लें कि अच्छे विचारों को कैसे उत्पन्न किया जाय। यदि हम अच्छे विचारों को उत्पन्न करना चाहते हैं, तो हमें केवल मुँह से ही नहीं परन्तु समस्त इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले आहार के सम्बन्ध में भी सावधानी बरतनी होगी। इस पर हम पहले चर्चा कर चुके हैं। यदि आहार शुद्ध है, तो हमारा विचार भी शुद्ध होगा। यदि आहार अशुद्ध है, तो हमारा विचार भी अशुद्ध होगा। गलत आहार ग्रहण करने का कोई

---

† सुधाकर दीक्षित कृत 'वितक्क-सनातन-सुत्त'।

‡ विवेकानन्द साहित्य, खंड ७, पृ. २२।

प्रयोजन नहीं। हम क्यों गलत आहार से उत्पन्न होने-वाले गलत विचारों को दबाने में अपनी शक्ति का वृथा क्षय करें? वास्तव में तो विचार-संयम का मतलब विचार-दमन नहीं, बल्कि उस पर प्रभुत्व प्राप्त करना है।

उच्चतम स्थिति में अवश्य ही विचार-संयम का तात्पर्य विचार के सम्पूर्ण रुक जाने से है। जब तक हम अपने को अहंकार या शरीर से एक मानते हैं, तब तक हम इस अवस्था पर नहीं पहुँच सकते। स्वामी विवेकानन्द प्राणा-याम पर जो निम्नलिखित सबक सिखाते हैं, वह विचार को बन्द करने की प्रक्रियाओं का संकेत करता है—

...अपने को ईश्वर से अभिन्न समझो। कुछ समय बाद विचार अपने आगमन की घोषणा करेंगे और वे कैसे प्रारम्भ होते हैं, इस बात का हमें ज्ञान होगा और हम जो कुछ भी सोचने जा रहे हैं उसके प्रति सचेत हो जायेंगे। इस स्तर पर ठीक वैसा ही अनुभव होगा, जैसा कि हम प्रत्यक्ष किसी आदमी को देखते हैं। इस सीढ़ी तक हम तभी पहुँच पाते हैं जब हमने अपने को मन से अलग करना सीख लिया है और तब हम अपने को अलग और मन को एक अलग वस्तु के रूप में देखते हैं। विचार तुम्हें पकड़ने न पायें; हटकर खड़े हो जाओ, वे शान्त हो जायेंगे।

इन (इष्टदेवता विषयक) पवित्र विचारों का अनुसरण करो; उनके साथ चलो और जब वे अन्तर्हित हो जायेंगे तब तुम्हें सर्वशक्तिमान् भगवान् के चरणों के दर्शन होंगे। यह स्थिति ज्ञानातीत (अतिचेतन) अवस्था है। जब विचार विलीन हो जायँ, तब उसी का स्मरण करो और उसी में तन्मय हो जाओ।†

---

† विवेकानन्द साहित्य, खंड ४, पृ. ६३।

यहाँ पर उल्लेखनीय होगा कि हम विचारशून्य अवस्था की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधनाओं का अभ्यास किये बिना अधीर न हो बैठें। मन को, जहाँ तक बने, पवित्र विचारों से भर लेना उचित होगा। इससे मन शुद्ध होगा। जब मन शुद्ध हो जाता है, तो विचार अपने आप रुक जाता है।

गायत्री-मंत्र का जाप मनोनिग्रह में बड़ा सहायक है। मन्त्र का अर्थ यह है--

हम उस दीप्तिमान् सविता की वरेण्य प्रभा का ध्यान करते हैं; वह हमारी बुद्धि को (शुभ कार्यों में) प्रेरित करे।†

यह वास्तव में समझ को परिष्कृत करने की प्रार्थना है और यह मन की पवित्रता से साधित होता है। पहले कह चुके हैं, मन जितना पवित्र होगा, उसे वश में करना उतना ही सरल होगा।

पतंजलि के अनुसार ॐ मंत्र का जाप मनोनिग्रह में मूलभूत रूप से सहायक होता है। वे कहते हैं---

वह (ईश्वर) प्रणव के द्वारा सूचित होता है। इस प्रणव के जाप और उसके अर्थ (ईश्वर) का चिन्तन करने से एकाग्रता की प्राप्ति होती है। उससे आत्मनिरीक्षण सधता है तथा एकाग्रता में आनेवाली बाधाओं से मुक्ति मिलती है।‡

जब मन निगृहीत हो जाता है तो आत्मनिरीक्षण

---

† ऋग्वेद, ३/६२/१०।

‡ तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥ ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥२९॥ योगसूत्र, समाधिपाद।

और एकाग्रता सधती है। स्वामी विवेकानन्द पतंजलि के इन २८ वें और २९ वें सूत्रों पर व्याख्या करते हुए लिखते हैं--

जप अर्थात् बारम्बार उच्चारण की क्या आवश्यकता है ? हम संस्कारविषयक मतवाद को न भूले होंगे। हमें स्मरण होगा कि समस्त संस्कारों की समष्टि हमारे मन में विद्यमान है। ये संस्कार क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अव्यक्त भाव धारण करते हैं। पर वे बिल्कुल लुप्त नहीं हो जाते, वे मन के अन्दर ही रहते हैं; और ज्योंही उन्हें यथोचित उद्दीपना मिलती है, बस त्योंही वे चित्तरूपी सरोवर की सतह पर उठ आते हैं। परमाणु-कम्पन कभी बन्द नहीं होता। जब यह सारा संसार नाश को प्राप्त होता है, तब सब बड़े बड़े कम्पन या प्रवाह लुप्त हो जाते हैं, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी सभी लय को प्राप्त हो जाते हैं पर कम्पन परमाणुओं में बच रहते हैं। इन बड़े बड़े ब्रह्माण्डों में जो कार्य होता है, प्रत्येक परमाणु वही कार्य करता है। ठीक ऐसा ही चित्त के बारे में भी है। चित्त में होनेवाले सब कम्पन अदृश्य अवश्य हो जाते हैं, फिर भी परमाणुओं के कम्पन के समान उनकी सूक्ष्म गति अक्षुण्ण बनी रहती है, और ज्योंही उन्हें कोई संवेग मिलता है, बस त्योंही वे पुनः बाहर आ जाते हैं। अब हम समझ सकेंगे कि जप अर्थात् बारम्बार उच्चारण का तात्पर्य क्या है। हम लोगों के अन्दर जो आध्यात्मिक संस्कार हैं, उन्हें विशेष रूप से उद्दीप्त करने में यह प्रधान सहायक है। 'क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका'-- 'साधुओं का एक क्षण का भी सत्संग भवसागर पार होने के लिए नौकास्वरूप है।' सत्संग की ऐसी जबरदस्त शक्ति है! बाह्य सत्संग की जैसी शक्ति बतलायी गयी है, वैसी ही आन्तरिक सत्संग की भी है। इस ओंकार का बारम्बार जप करना और

उसके अर्थ का मनन करना ही आन्तरिक सत्संग है। जप करो और उसके साथ उस शब्द के अर्थ का ध्यान करो। ऐसा करने से देखोगे, हृदय में ज्ञानालोक आयेगा और आत्मा प्रकाशित हो जायेगी।

'ॐ' शब्द पर मनन तो करोगे ही, पर साथ ही उसके अर्थ पर भी मनन करो। कुसंग छोड़ दो; क्योंकि पुराने घाव के चिह्न अभी भी तुममें बने हुए हैं; उन पर कुसंग की गर्मी लगने भर की देर है कि बस, वे फिर से ताजे हो उठेंगे। ठीक इसी प्रकार हम लोगों में जो उत्तम सस्कार हैं, वे भले ही अभी अव्यक्त हों, पर सत्संग से वे फिर जाग्रत्-व्यक्त हो जायेंगे। संसार में सत्संग से पवित्र और कुछ नहीं है, क्योंकि सत्संग से ही शुभ संस्कार चित्तरूपी सरोवर की तली से ऊपरी सतह पर उठ आने के लिए उन्मुख होते हैं।

इस ओंकार के जप और चिन्तन का पहला फल यह देखोगे कि क्रमशः अन्तर्दृष्टि विकसित होने लगेगी और योग के मानसिक और शारीरिक विघ्नसमूह दूर होते जायेंगे। †

२७. अवचेतन मन का संयम

मन के चेतन और अवचेतन स्तरों के बीच निश्चय-पूर्वक सीमा-रेखा खींचना कठिन है। तथापि व्यवहार में, हाथ में ली गयी समस्या का विचार करते समय, इन शब्दों का उपयोग सुविधाजनक होगा। जिन अनुशासनों का पालन चेतन मन के संयम हेतु करना पड़ता है, वे अवचेतन मन को बिल्कुल अछूता नहीं छोड़ सकते। इसका उल्टा भी सत्य है। फिर भी हमने अभी तक जो विचार किया, वह प्रत्यक्षतः चेतन स्तर से ही सम्बन्धित है।

† विवेकानन्द साहित्य, खंड १, पृ. १३५-३६।

अब हम अवचेतन मन के संयम पर आते हैं। यह चेतन स्तर पर किये गये कार्य का ही एक स्वाभाविक बढ़ाव है। हममें से सभी ने अपने जीवन में ऐसी घटना का अनुभव किया होगा कि हम जानते तो हैं कि ठीक क्या है, फिर भी हम उसका पालन नहीं कर पाते; इसी प्रकार हम जानते तो हैं कि गलत क्या है, फिर भी उससे विरत नहीं हो पाते। हम बहुत अच्छे अच्छे संकल्प करते हैं, पर उनके प्रति सजग होने के पहले ही वे उसी प्रकार धुल जाते हैं, जैसे प्रचण्ड जलप्रवाह के सामने रेत का पुल। हम चकित, भ्रमित और हताश-से खड़े रह जाते हैं।

इस अवस्था की जाँच-पड़ताल हमें यह बतलायेगी कि हम मन के चेतन भाग से तो संकल्प कर रहे हैं और हम ही उसके दूसरे भाग अवचेतन से उन संकल्पों को नष्ट कर दे रहे हैं। हम इस अवचेतन के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा ही जानते हैं। वह मन का एक प्रकाशहीन भाग है।

जिस क्षण हम गम्भीरतापूर्वक मन के नियन्त्रण में लगते हैं, हम आभ्यन्तरिक कठिनाइयों से घिर जाते हैं। हम जितना ही लगे रहते हैं, कुछ समय के लिए हमारी कठिनाइयाँ उतनी ही अधिक मालूम होती हैं। अचरज में पड़कर हम अपने आप से पूछने लगते हैं—'यह क्या! मैं तो दिन पर दिन खराब होता जा रहा हूँ। जब से धर्म को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है, तब से तो अपने में दिन-प्रतिदिन गिरावट का ही अनुभव कर रहा हूँ!' यदि अवस्था ऐसी हो भी, तो हमें चिन्तित नहीं

होना चाहिए, क्योंकि सामान्यतः ऐसा ही हुआ करता है। इसकी प्रक्रिया यों है——जब हम अध्यवसायपूर्वक चेतन मन को नियन्त्रित करने की चेष्टा करते हैं, तो हम अपने अवचेतन मन की विरोधी शक्तियों से मुठभेड़ ले लेते हैं। ये विरोधी शक्तियाँ और कुछ नहीं बल्कि हमारे ही अपने संचित संस्कार हैं। जो भी हम सोचते और करते हैं, वह हमारे मन पर अपनी एक सबल छाप छोड़ जाता है। ये संस्कार अवचेतन मन से ऊपर उठते हैं और फिर से अभिव्यक्त होना चाहते हैं। चेतन मन से उस समय हम जो सोच रहे होते हैं, उसके यदि वे विरोधी हुए, तो संघर्ष ठन जाता है।

अवचेतन मन घर के तलघर के समान है। तुम नहीं जानते कि वहाँ कितना कूड़ा-कर्कट इकट्ठा है, जब तक कि एक दिन तुम उसे साफ करने की ठान नहीं लेते। जब तुम साफ करना शुरू करते हो तो तुम्हें पता नहीं रहता कि कैसी चीजें और कौन से कीड़े तुम्हें मिलनेवाले हैं। तुम शीघ्र थक जाते हो और काम को अधूरा छोड़ देते हो। अतः तलघर तलघर ही बना रहता है, क्वचित् ही वह रहने लायक कमरा बन पाता है। पर जब तक हम अवचेतन मनरूपी इस तलघर को साफ नहीं करते, तब तक चेतन मन के संयम के प्रति निस्सन्दिग्ध नहीं हो सकते। अतएव अवचेतन मन के इस अन्धकारपूर्ण क्षेत्र को साफ करने के रास्ते हमें खोजने ही चाहिए। यह कैसे होता है ?

मान लो हम एक दावात साफ करना चाहते हैं।

यह हम कैसे करेंगे ? हम दावात में साफ पानी डालते हैं। इससे सूखी स्याही जल में घुल जाती है और कुछ देर रंगीन जल ही बाहर निकलता है। तदनन्तर कुछ अधिक साफ और कुछ कम स्याही वाला पानी बाहर आता है। अन्त में हमें स्याही का लेशमात्र भी नहीं मिलता। साफ पानी दावात में डालने पर उसमें से साफ पानी ही बाहर निकलता है।

इसी प्रकार अवचेतन मन को साफ करने का एक तरीका यह है कि मन में पवित्र विचार ढाले जायँ और उनको हम अपने भीतर गहराई में उतरने दें। पवित्र विचार साफ पानी के समान है। स्मरण रखें, यदि एक विशेष अवस्था में हमारे भीतर से स्याह जल बाहर निकले, तो उससे हमें भयभीत नहीं होना चाहिए। यदि हम लगातार पवित्र विचार ढालते ही रहें, तो एक समय ऐसा आयेगा, जब केवल पवित्र विचार ही हमारे भीतर से बाहर आयेंगे। तब यह समझा जा सकता है कि अवचेतन मन साफ हो गया है। और तब चेतन मन का संयम कठिन न होगा।

हमें ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि अवचेतन मन केवल अशुभ का ही भण्डार है। अवचेतन में हमारे अतीत के शुभ और उदात्त विचार एवं अनुभव भी बीज-रूप में संचित रहते हैं। इस प्रकार अवचेतन में हमने मनो-निग्रह के अपने प्रयत्नों के लिए सहायता और विरोध दोनों संचित कर रखे हैं। हमारा प्रयत्न यह रहेगा कि

विरोध को कम करें और सहायता कोएँ बढ़ा। श्रीकृष्ण ने गीता† में अर्जुन को यह आश्वासन दिया है कि जो योगी पथभ्रष्ट हो जाता है, उसे शाश्वत दुख में नहीं रहना पड़ता, क्योंकि उसके शुभ कर्म संचित रहते हैं और वह अगले जन्म में अपने पिछले जन्म में प्राप्त बुद्धि के साथ फिर से युक्त हो जाता है। पिछले जन्म में प्राप्त बुद्धि के साथ इस प्रकार से युक्त होना इस जन्म में की जानेवाली मनोनिग्रह की चेष्टाओं में एक सशक्त अज्ञात उपादान हो सकता है। यदि पूर्वजन्म में प्राप्त इस बुद्धि का कोई विशिष्ट विचरण-क्षेत्र निर्दिष्ट करना चाहें, तो वह यह अवचेतन मन ही होगा।

अतएव मनःसंयम के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य तो अवचेतन के स्तर पर ही करना होगा। दूसरी ओर, यदि हम जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति को अर्थात् अतिचेतन अवस्था की अनुभूति को अपना एकमात्र गम्य न बनाएँ, तो हम न तो अपने चेतन मन का संयम कर सकते हैं और न अवचेतन का। अतिचेतन अवस्था की अनुभूति ही, या यों कहें कि ईश्वर का साक्षात्कार ही हमारी आसक्ति, घृणा और भ्रम का निवारण करता है, जो मन में क्षोभ और अशान्ति की सृष्टि करते रहते हैं।

इस तरह मन को संयमित करने के हमारे प्रयत्न ऐसे हों कि एक ओर वे अवचेतन मन को छूएँ और दूसरी ओर अतिचेतन का स्पर्श करें। दूसरे शब्दों में,

† ६/४३।

मनोनिग्रह की प्रक्रिया में हमारा सारा अस्तित्व ही समाहित हो जाता है। मनःसंयम के कार्य की विशालता पर बल देते हुए स्वामी विवेकानन्द यह बतलाते हैं कि कैसे हमारा अध्ययन और हमारे प्रयत्न केवल चेतन स्तर तक ही सीमित नहीं रह सकते--

हमारे सामने बहुत बड़ा काय है, और इसमें सर्वप्रथम सबसे महत्त्व का काम है अपने सहस्त्रों गुप्त संस्कारों पर अधिकार चलाना, जो अनैच्छिक सहज क्रियाओं में परिणत हो गये हैं। यह बात सच है कि असत् कर्मसमूह मनुष्य के जाग्रत्-क्षेत्र में रहता है, लेकिन जिन कारणों ने इन बुरे कामों को जन्म दिया, वे इसके बहुत पीछे स्थित प्रसुप्त और अदृश्य जगत् के हैं और इसलिए अधिक प्रभावशाली हैं।†

अतएव स्वामीजी 'अचेतन' के संयम को विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं। यहाँ पर अवचेतन और अचेतन में कोई अन्तर नहीं माना गया है, और इसके अकाट्य तर्क भी हैं। वे कहते हैं--

व्यावहारिक मनोविज्ञान प्रथम हमें यह सिखलाता है कि हम अपने अचेतन मन का नियन्त्रण किस तरह कर सकते हैं। हम जानते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं। क्यों? इसलिए कि हम जानते हैं चेतन मन ही अचेतन का कारण है। हमारे जो लाखों पुराने चेतन कार्य थे, वे ही घनीभूत होकर प्रसुप्त हो जाने पर हमारे अचेतन विचार बन जाते हैं। हमारा उधर ख्याल ही नहीं जाता, हमें उनका ज्ञान नहीं होता, हम उन्हें भूल जाते हैं। लेकिन देखो, यदि प्रसुप्त अज्ञात संस्कारों में बुरा करने की शक्ति है तो उनमें अच्छा करने की भी शक्ति है। हमारे भीतर

† विवेकानन्द साहित्य, खंड ३, पृ. १२०-२१।

नाना प्रकार के संस्कार भरे पड़े हैं--मानो एक जेब में बहुत सी चीजें बँधी हुई हैं। उन्हें हम भूल गये हैं, हम उनका विचार तक नहीं करते। उनमें से बहुत से तो वहीं पड़े सड़ते रहते हैं और सचमुच भयावह बनते जाते हैं। वे ही प्रसुप्त कारण एक दिन मन के ज्ञानयुक्त क्षेत्र पर आ उठते हैं और मानवता का नाश कर देते हैं। अतएव सच्चा मनोविज्ञान उनको चेतन मन के अधीन लाने का प्रयत्न करेगा। अतएव महत्त्वपूर्ण बात है पूरे मनुष्य को पुनरुज्जीवित-जैसे कर देना, जिससे कि वह अपना पूर्ण स्वामी बन जाय। शरीरान्तर्गत यकृत आदि इन्द्रियों की स्वतःप्रवृत्त क्रियाओं को भी हम अपनी आज्ञापालक बना सकते हैं।†

पर 'अचेतन' के संयम से हमारा पूरा कार्य नहीं बन जाता। उससे भी अधिक कुछ है। अतः स्वामी विवेकानन्द कहते हैं--

अचेतन को अपने अधिकार में लाना हमारी साधना का पहला भाग है। दूसरा है चेतन के परे जाना। जिस तरह, अचेतन चेतन के नीचे--उसके पीछे रहकर कार्य करता रहता है, उसी तरह चेतन के ऊपर--उसके अतीत भी एक अवस्था है। जब मनुष्य इस अतिचेतन अवस्था को पहुँच जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है, ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है। तब मृत्यु अमरत्व में परिणत हो जाती है, दुर्बलता असीम शक्ति बन जाती है और अज्ञान की लौह शृंखलाएँ मुक्ति बन जाती हैं। अतिचेतन का यह असीम राज्य ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है।‡

इस विषय में अपनी शिक्षा को और भी खुलासा तथा मजबूत करते हुए वे कहते हैं--

---

† विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. १२१।

‡ वही, पृ. १२१।

अतएव यह स्पष्ट है कि हमें दो कार्य अवश्य ही करने होंगे। एक तो यह कि इड़ा और पिंगला के प्रवाहों का नियमन कर अचेतन कार्य को नियमित करना; और दूसरा, इसके साथ ही साथ चेतन के भी परे चले जाना।

ग्रन्थों में कहा है कि योगी वही है जिसने दीर्घकाल तक चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करके इस सत्य की उपलब्धि करली है। अब सुषुम्णा का द्वार खुल जाता है और इस मार्ग में वह प्रवाह प्रवेश करता है, जो इसके पूर्व उसमें कभी नहीं गया था। वह (जैसा कि आलंकारिक भाषा में कहा है) धीरे धीरे विभिन्न कमल-चक्रों में से होता हुआ, कमल-दलों को खिलाता हुआ अन्त में मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। तब योगी को अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, वह जान लेता है कि वह स्वयं परमेश्वर ही है। †

यहाँ पर राजयोग के माध्यम से प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी को जगाने का उल्लेख हुआ है। यह प्राणायाम मन के संयम में सहायक होता है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इस प्राणायाम की शिक्षा किसी जानकार और पटु शिक्षक से ग्रहण करनी चाहिए। पर ऐसे शिक्षक का मिलना सरल नहीं है। जो यथार्थ में साधक हैं और संयमी हैं और जिन्हें भाग्य से ऐसा शिक्षक प्राप्त हो गया है, वे उससे प्राणायाम सीख सकते हैं। इससे उनका मनोनिग्रह का कार्य सरल हो जायगा। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या अधिक है जो अपने मन से संघर्ष करते हैं और उसे अपने वश में करना चाहते हैं, पर जिन्हें प्राणायाम

† वही, पृ. १२१-१२२।

के अभ्यास के लिए न तो अनुकूल वातावरण मिलता है और न किसी निपुण शिक्षक से वह सब सीखने का अवसर ही उन्हें प्राप्त होता है। इसलिए उनमें से बहुतों को दूसरी साधनाओं पर निर्भर करना चाहिए, जो श्रद्धा और अध्यवसाय के साथ की जाने पर समान रूप से ही प्रभावी होती हैं। इन साधनाओं में ॐ के अर्थ का ध्यान करते हुए उसका जप करना सबसे अधिक फलदायी है।

जब किसी व्यक्ति में कुण्डलिनी जग जाती है, तो अवचेतन मन के संयम का कठिन कार्य भी अपने आप सध जाता है। पर सच तो यह है कि राजयोग के माध्यम से कुण्डलिनी को जगाने का अभ्यास अधिकांश लोगों के द्वारा सहज ही नहीं किया जा सकता।

सौभाग्य से दूसरी अन्य साधनाएँ भी हैं, जिनके अभ्यास से मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना को जगाया जा सकता है।

श्रीरामकृष्ण उपदेश देते हैं--

केवल पुस्तक पढ़ने से चैतन्य नहीं होता। भगवान् को पुकारना चाहिए। व्याकुल होने पर कुल-कुण्डलिनी जागृत होती है।*

...भक्तियोग से कुल-कुण्डलिनी शीघ्र जागति होती है।†

एक दिन किसी शिष्य ने स्वामी ब्रह्मानन्द से पूछा, 'महाराज ! कुण्डलिनी को कैसे जगाया जाता है ?'

उन्होंने उत्तर दिया--

---

* श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग ३, तृतीय संस्करण, पृ. २६९।

† श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग १, पंचम संस्करण, पृ. ५६०।

कुछ लोग कहते हैं कि इसके लिए कुछ प्रक्रियाएँ हैं, पर मैं मानता हूँ कि भगवन्नाम के जप और ध्यान के द्वारा यह सबसे अच्छा सध सकता है। हमारे इस युग के लिए जप का अभ्यास और ईश्वर का ध्यान विशेष अनुकूल है। इससे बढ़कर साधना और नहीं है। पर स्मरण रखो, मन्त्र के जप के साथ ध्यान भी अवश्य चलना चाहिए।†

इस प्रकार भक्तियोग के माध्यम से प्रार्थना, भगवन्नाम का जप और ध्यान आदि के द्वारा हमारी आध्यात्मिक सम्भावनाएँ प्रकट हो जाती हैं। इससे अवचेतन मन की गड़बड़ियाँ अपने आप ठीक होने लगती हैं। अतः किसी को यह सोचकर हताश नहीं होना चाहिए कि राजयोग का अभ्यास करने में समर्थ न होने के कारण उसके लिए अवचेतन मन को नियन्त्रण में लाने का रास्ता बन्द हो गया है। संसार में इतना असहाय कोई नहीं है कि वह भगवन्नाम का जप न कर सके। यदि कोई है तो समझ लेना चाहिए कि उसके लिए मनोनिग्रह का समय अभी नहीं आया है। (अगले अंक में समाप्य)

† स्वामी प्रभवानन्द, वही, पृ. १४९।

सब प्रकार के शरीरों में मानव-देह ही श्रेष्ठतम है; मनुष्य ही श्रेष्ठतम जीव है। मनुष्य सब प्रकार के निकृष्ट प्राणियों से, यहाँ तक कि देवादि से भी श्रेष्ठ है। मनुष्य से श्रेष्ठतर जीव और कोई नहीं।

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी आत्मानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

यह सन् १८९७ ई० की बात है। तब युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द अमेरिका में वेदान्त की विजय-पताका फहराकर भारत लौटे थे। उनकी कीर्ति-कौमुदी सारे विश्व में छा गयी थी। उनके अवतरण से पुराने भारत की शिराओं में नये रक्त का संचार हुआ था और वे युवकों के हृदय में आराध्य देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। सारा भारत युगाचार्य की अमृत-वाणी सुन युगों की गहरी नींद को त्यागकर अँगड़ाइयाँ लेने लगा था। उस समय स्वामीजी कलकत्ता में आलमबाजार मठ में वास कर रहे थे। रात-दिन उनके पास दर्शनार्थियों का ताँता लगा रहता था। ऐसे व्यस्त समय में कोई अपने मन की गोपन बात भला कैसे कह सकता है? नवागत ब्रह्मचारी शुकुल अक्लान्त भाव से स्वामीजी की सेवा कर रहा था। उसकी शान्त और गम्भीर प्रकृति को देखकर स्वामीजी को बड़ा अच्छा लगा। एक दिन उन्होंने उससे पूछ लिया, "शुकुल, क्या तुम साधु बनने के लिये आये हो?" शुकुल ने तत्काल उत्तर दिया, "साधु होने लायक मेरे शरीर और मन की स्थिति नहीं है। मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि यदि मैं अपने इस जर्जर शरीर-मन को आपकी सेवा में लगा दूँ, तो अगले जन्म में मुझे सबल देह और मन की प्राप्ति होगी।" स्वामीजी

शुकुल के उत्तर से बड़े सन्तुष्ट हुए और दो-तीन दिनों के बाद ही उसे संन्यास-दीक्षा प्रदान कर दी। युगाचार्य के पारस-स्पर्श ने शुकुल को स्वामी आत्मानन्द बना दिया।

शुकुल का पूर्वनाम था गोविन्दप्रसाद शुकुल। उनके पूर्वज बिहार के पूर्णिया जिले के निवासी थे। उनके पितामह युगलकिशोर शुकुल उत्तर बंगाल के मालदह जिले में आकर बस गये थे। युगलकिशोर के दो पुत्र हुए, गुरुप्रसाद और दुर्गादास। गोविन्दप्रसाद दुर्गादास के पुत्र थे। मालदह जिले के देवीपुर गाँव में दुर्गादास का स्थायी निवास था। यहीं गोविन्दप्रसाद का जन्म हुआ।

गोविन्दप्रसाद के ताऊ गुरुप्रसाद चाँचल-राज्य के देवालय के प्रधान पुरोहित थे। राजमहल के देवालय में अन्नपूर्णा और गोविन्दजी के विग्रह की नित्य-सेवा होती थी। शिक्षारम्भ की अवस्था होने पर गुरुप्रसाद ने अपने भतीजे को पढ़ाने-लिखाने के लिए चाँचल बुला लिया। गोविन्दप्रसाद अपने ताऊ को पूजादि में सहायता करते और गुरुप्रसाद भी उन्हें धार्मिक ग्रन्थों को पढ़कर सुनाया करते तथा सन्ध्या-वन्दन करना सिखाते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही गोविन्दप्रसाद में धार्मिक संस्कारों का पड़ना आरम्भ हो गया था। उनकी मेधा बड़ी तीक्ष्ण थी। जहाँ वे पढ़ने-लिखने में तेज थे, वहाँ ताऊ के निष्ठावान् धार्मिक स्वभाव का भी उन पर काफी प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि भजन-पूजन, ध्यान-धारणा आदि में वे सहज भाव से रस लेने लगे थे। गोविन्दप्रसाद अन्य

बालकों के समान चंचल और ऊधमी नहीं थे। वे अन्तर्मुखी प्रकृति के थे और बाल्यकाल से ही उनका स्वभाव आश्चर्यजनक रूप से शान्त और गम्भीर था। सन् १८९० में उन्होंने चाँचल-राज्य उच्च विद्यालय से प्रवेशिका की परीक्षा उत्तीर्ण की और आगे की पढ़ाई के लिए उन्हें चाँचल-राज्य की ओर से छात्र-वृत्ति भी मिली।

अब गोविन्दप्रसाद एफ. ए. की पढ़ाई करने कलकत्ता चले आये और रिपन कॉलेज में प्रवेश लिया। यहाँ उनका परिचय ऐसे धार्मिक भावापन्न मित्रों से हुआ, जिन्होंने गोविन्दप्रसाद की आध्यात्मिकता को और भी बढ़ा दिया। जो लोग कालान्तर में युगाचार्य विवेकानन्द के संन्यासी-शिष्यों के रूप में प्रख्यात हुए, उनमें से अनेक गोविन्दप्रसाद के सहपाठी थे। गोविन्दप्रसाद कलकत्ता के जिस मकान में रहकर पढ़ा करते, उसी में खगेन भी रहते थे। एक ही मकान में रहने के कारण उनमें क्रमशः घनिष्ठता होने लगी। कालान्तर में ये ही खगेन स्वामी विमलानन्द के नाम से विख्यात हुए। शीघ्र ही खगेन ने अपनी युवा-गोष्ठी में गोविन्दप्रसाद को भी सम्मिलित कर लिया। इस गोष्ठी के सभी सदस्य धार्मिक भावापन्न थे तथा नियमित रूप से इकट्ठे होकर धर्म-चर्चा, साधु-संग, शास्त्र-पाठ एवं ध्यान-जप किया करते थे। इन्हीं मित्रों के साथ गोविन्दप्रसाद काँकुड़गाछी योगोद्यान, दक्षिणेश्वर और वराहनगर मठ गये थे और इनके माध्यम ही से उन्हें युगावतार श्रीरामकृष्ण देव की लोकोत्तर लीलाओं का

परिचय मिला था। कालान्तर में 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के अमर रचयिता महेन्द्रनाथ गुप्त तथा श्रीरामकृष्ण देव के अन्य प्रख्यात गृही शिष्य गिरीशचन्द्र घोष, रामचन्द्र दत्त एवं मनोमोहन मित्र आदि से भी परिचित होनें का उन्हें अवसर मिला था। इससे उनका भाव और भी प्रगाढ़ हो चला। महेन्द्रनाथ गुप्त ने इन नवयुवकों को श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी शिष्यों से मिलने के लिए प्रेरित किया था। वराहनगर मठ में श्रीरामकृष्ण की त्यागी सन्तानों की भगवद्भक्ति, तपस्या और साधना को देखकर गोविन्द-प्रसाद अत्यन्त प्रभावित हुए। उन सबके तपःपूत व्यक्तित्व ने गोविन्दप्रसाद की अन्तर्निहित वैराग्याग्नि को और भी प्रज्वलित कर दिया। वे नियमित रूप से वराहनगर जाने लगे। स्वामी रामकृष्णानन्द इन युवक-भक्तों का बड़ी आत्मीयता से स्वागत करते तथा अक्लान्त भाव से उन्हें उच्चतर जीवन बिताने के लिए प्रेरित करते थे।

गोविन्दप्रसाद ने योग्यता के साथ एफ.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की और बी.ए. पढ़ने लगे। पर अब उनके मन में एक नयी भावधारा पूरे वेग से बहने लगी। यह आध्यात्मिकता का उन्मद नद-प्रवाह था। वैराग्या-नल के प्रखर होने के कारण वे जप-ध्यान में अधिक समय बिताने लगे। जब उनके परिजनों को गोविन्दप्रसाद का यह भावान्तर ज्ञात हुआ, तो उन्होंने सांसारिकता में बाँधने के लिए उनका विवाह कर दिया। पर भले ही गोविन्दप्रसाद विवाहित हो गये, उनका मन संसारी

नहीं बन पाया। वे पूर्ववत् अपने साथियों के साथ धर्म-चर्चा, शास्त्र-पाठ और ध्यान-जप करने लगे। कभी वे काँकुड़गाछी-स्थित रामचन्द्र दत्त की वाटिका में एकान्त-वास करते हुए ईश्वर-चिन्तन में लीन हो जाते और कभी दक्षिणेश्वर पहुँचकर पंचवटी में साधना करते।

जब चाँचल के राजा को गोविन्दप्रसाद के भावान्तर की सूचना मिली, तो उन्होंने छात्र-वृत्ति देना बन्द कर दिया। इससे गोविन्दप्रसाद की कॉलेज की पढ़ाई बन्द हो गयी। पर इसका कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ा। कॉलेज में पढ़ते समय उन्होंने श्रीमाँ सारदा देवी के दर्शन किये थे और उनसे मंत्र-दीक्षा भी ली थी। पढ़ाई की बाधा टूटते ही वे मन-प्राण से आध्यात्मिक साधनाओं में लग गये। इस बीच उन्हें स्वामी रामकृष्णानन्दजी से निरन्तर निर्देश और प्रेरणा मिलती रही। उन्हीं के आदेश पर वे सन् १८९६ में मठ में निवास करने चले आये। तब मठ वराहनगर से स्थानान्तरित हो आलम-बाजार चला आया था।

गोविन्दप्रसाद के मठ-वास के समाचार से उनके कुटुम्बी बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने उनको घर बुलाने की बहुत कोशिशें कीं, पर वे व्यर्थ ही हुईं। अन्त में उन्होंने चाँचल के राजा से अनुरोध किया कि वे किसी प्रकार गोविन्दप्रसाद को बुला लें। स्वयं चाँचल के राजा भी गोविन्द-जैसे होनहार युवक को विरक्त नहीं होने देना चाहते थे। उन्होंने गोविन्दप्रसाद को पत्र लिखा कि

उनके व्यक्तिगत कामों के लिए गोविन्दप्रसाद का चाँचल आना अत्यावश्यक है और यदि वे दो-चार दिनों के लिए वहाँ आ जायें, तो राजा उनके बड़े कृतज्ञ होंगे। गोविन्द-प्रसाद की राजा ने बड़ी सहायता की थी। अतः उनका पत्र पढ़ते ही वे चाँचल के लिए रवाना हो गये। राज-महल में जाकर जैसे ही उन्होंने राजा से भेंट की, राजा उन्हें संसार का त्याग न करने का उपदेश देने लगे। तब उन्हें मालूम पड़ा कि राजा ने उन्हें इसी कारण बुलवा भेजा है। वे तरह तरह से गोविन्दप्रसाद को समझाने लगे कि विवाहित पत्नी के प्रति पति के कुछ कर्तव्य होते हैं तथा उनका पालन न करने पर महान् अकल्याण घटित होगा। उन्होंने गोविन्दप्रसाद को शिक्षकीय या राजकीय पद देने का प्रलोभन भी दिया। पर गोविन्द-प्रसाद निर्लिप्त भाव से सारे उपदेशों को सुनते रहे। उन पर उन बातों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। अपनी चेष्टाओं को विफल होते देख राजा ने उन्हें बहुत डराया-धमकाया और कमरे में बन्द भी कर दिया। गोविन्द-प्रसाद की पत्नी ब्रह्ममयी देवी सजल नेत्रों से पतिदेव की ओर ताकती रहीं। अपने पति के भावान्तर के लिए वे रो-रोकर इष्टदेवता के चरणों में प्रार्थना करती रहीं। किन्तु शासक का प्रलोभन और भय तथा पत्नी का अश्रु-सिक्त मुख गोविन्दप्रसाद को लक्ष्यविमुख नहीं कर सका। उन्हें संसारी बनाने के सारे प्रयत्न असफल रहे। यद्यपि उन्हें कड़े पहरे में रखा गया था, पर वे एक दिन रात

के अँधेरे में पहरेदारों की सजग निगाहों से बचकर भाग निकले और आलमबाजार मठ में आ गये। कालान्तर में ब्रह्ममयी देवी को भी श्रीमाँ सारदा देवी की कृपा प्राप्त हुई और उन्होंने अपना शेष जीवन ईश्वराराधना में लगा दिया।

गोविन्दप्रसाद का शरीर बाल्यकाल से ही दुर्बल था। उन्हें दीर्घकाल से अजीर्ण की व्याधि थी, जिसने उनके स्वास्थ्य को जर्जर बना दिया था। वे प्रायः सोचा करते थे कि ऐसे निर्बल शरीर से किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक साधना सम्भव नहीं होगी। ऐसी स्थिति में किसी महान् उद्देश्य के लिए शरीर को खपा देना वे श्रेयस्कर समझते थे। उनकी मान्यता थी कि इससे उन्हें दूसरे जन्म में अवश्य ही योगाभ्यास के योग्य शरीर प्राप्त होगा। इसी विचार से वे मठ में भगवच्चिन्तन करते हुए अक्लान्त भाव से अनेकानेक सेवा-कार्यों में संलग्न हो गये। ऐसे ही समय उन्हें स्वामी विवेकानन्दजी की अहैतुकी कृपा प्राप्त हुई, जिसने उन्हें संन्यासि-श्रेष्ठ बना दिया और उनके व्यक्तित्व को ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग के जीवन्त विग्रह के रूप में परिवर्तित कर दिया।

स्वामीजी ने आत्मानन्द को देखते ही उनकी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को जान लिया और वे उन्हें मूर्त करने के लिए प्रयत्नशील हो गये। उन्होंने अनेक बार आत्मानन्द की सद्वृत्तियों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। एक बार वे अपने शिष्यों से घिरे हुए बैठे थे। उन्होंने समवेत शिष्यों से पूछा, "अच्छा बताओ, तुम लोग ज्ञान,

भक्ति, योग और कर्म में से किसमें 'आनर्स' लोगे ?" कुछ ने कहा——ज्ञान में; और कुछ भक्ति, योग और कर्म को चुनने लगे। कोई कोई तो 'डबल' और 'ट्रिबल' आनर्स लेने की बात करने लगे। सारे शिष्य बड़े उत्साह में थे, पर आत्मानन्द शान्त और गम्भीर ही रहे। जब एक शिष्य ने उनकी तरफ से कुछ कहना चाहा, तो स्वामीजी स्वयं कह उठे, "उसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग सभी भाव हैं।" कालान्तर में आत्मानन्द के जीवन में ये चारों भाव साकार हो उठे थे। उनका जीवन स्वामीजी के समन्वित योगादर्श का भाष्य बन गया था।

आत्मानन्द को अपने अप्रतिम गुरु के चरणों में बैठकर सीखने का दुर्लभ संयोग प्राप्त हुआ था। उन्होंने उनसे 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के लोकोत्तर मंत्र की व्याख्या सुनी थी। जब सन् १८९९ में कलकत्ता में प्लेग फैला, तब उन्होंने स्वामी कल्याणानन्द और भगिनी निवेदिता के साथ अहर्निश सेवा-कार्य किया था। सन् १९०० में राजस्थान के किशनगढ़ क्षेत्र में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय भी वे वहाँ सहायता-कार्य के लिए स्वामी कल्याणानन्द के साथ गये थे। स्वामी विवेकानन्द ने 'शिव-भाव से जीव-सेवा' का जो युगधर्म संस्थापित किया था, उसे आत्मानन्द ने अपने अथक प्रयत्नों के द्वारा व्यावहारिक बनाया और वे नारायण-भाव से दरिद्रों एवं पीड़ितों की सेवा करते रहे।

आत्मानन्द स्वामी विवेकानन्द के प्रति अनन्य श्रद्धा-

भक्ति रखते थे। अपने गुरुदेव की छोटी-से-छोटी आज्ञा का पालन करना उनके लिए महान् पुण्य था। एक बार स्वामीजी ने उनकी परीक्षा लेने के लिए भोजन करते समय मछली का एक टुकड़ा उनकी पत्तल में रख दिया। आत्मानन्द कट्टर निरामिष-भोजी थे। पर गुरु-प्रदत्त मछली के टुकड़े को देखकर वे तनिक भी संकुचित नहीं हुए, प्रत्युत गुरुदेव का प्रसाद समझकर बड़ी श्रद्धा से उसे ग्रहण करने के लिए उद्यत हो गये। यह देख स्वामीजी ने स्नेहपूर्वक उन्हें ऐसा करने से मना कर दिया। जैसी अटल श्रद्धा आत्मानन्द की स्वामीजी पर थी, स्वामीजी भी उनसे ठीक वैसी ही प्रीति करते थे। एक बार स्वामीजी भजन गा रहे थे। अचानक उधर से आत्मानन्द निकले। स्वामीजी ने उन्हें देखते ही कहा, "शुकुल, तबला बजा तो।" आत्मानन्द ने डरते डरते कहा, "मैं तो तबला बजाना नहीं जानता।" स्वामीजी स्नेहपूर्वक ताड़ना देते हुए बोले, "जानता नहीं क्या रे ? आ, सिखा दूँ।" स्वामीजी की कृपा से आत्मानन्द शीघ्र ही तबला-वादन में पारंगत हो गये। बाद में तो वे पखावज में स्वामीजी के ध्रुपद-गायन के साथ संगत भी करने लगे थे।

किन्तु सुख की ऐसी घड़ियाँ चिरस्थायी नहीं रहतीं। सन् १९०२ की चौथी जुलाई को स्वामीजी ने महा-समाधि ले ली। भक्तगण शोकसागर में डूब गये। आत्मानन्द पर तो मानो वज्रपात ही हो गया। जिस

नरदेहधारी देवपुरुष ने उन्हें श्रेयस् के पथ पर चलना सिखाया था, वे अब भौतिक नेत्रों से दूर हो गये। आत्मानन्द को अब जीवित रहना निष्प्रयोजन मालूम पड़ने लगा। अपने इस दारुण अनुभव का वर्णन करते हुए बाद में उन्होंने कहा था, "स्वामीजी के देहत्याग के उपरान्त संसार में रहने का मोह नहीं रहा। शरीर रहे या जाय, यह संकल्प लेकर मैं खाना-पीना छोड़कर कहीं भी पड़ा रहता। मैं कमरे में घुसता भी नहीं था, किसी के साथ बात करने की इच्छा तक नहीं होती थी। खाने-पीने की बात मन में उठती नहीं थी।" श्रीगुरु के पादपद्मों को प्राप्त करने के लिए उन्होंने कठोर तपस्या करना शुरू कर दिया। वे स्वामीजी की समाधि के निकट पर्णकुटी बनाकर रहने लगे तथा ध्यान-जप और शास्त्र-पाठ में डूब गये। बहुत दिनों के बाद, अत्यधिक अनुरोध करने पर, वे मठ लौटे थे, पर उनका हृदय स्वामीजी के बिछोह में विदीर्ण होता रहता था।

यद्यपि आत्मानन्द का जीवन कर्मबहुल नहीं था, तथापि उन्होंने श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की भावधारा के प्रचार-प्रसार में पूरा सहयोग दिया था। अन्तर्मुखी और तपोलीन होते हुए भी उन्होंने कभी कर्म की उपेक्षा नहीं की। कार्य के सम्बन्ध में वे कहते, "साधु-जीवन का उद्देश्य मन को एकाग्र और अन्तर्मुखी करना है। स्वामीजी छोटे-छोटे कार्यों को करते हुए कर्मयोग की साधना किया करते थे। निवृत्तिमूलक कर्मयोग ही साधु-जीवन का लक्ष्य है। सकाम कर्म साधु-जीवन का

उद्देश्य नहीं हो सकता।" आत्मानन्द के जीवन में ऐसे ही निष्काम कर्मयोग की प्रतिष्ठा हुई थी।

सन् १९०४ में स्वामी रामकृष्णानन्दजी के अनुरोध पर वे मद्रास चले आये। यहाँ मठ सुव्यवस्थित रूप से चल रहा था। बँगलोर के भक्तगण भी वहाँ आश्रम-स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे थे। रामकृष्णानन्दजी ने बँगलोर में मठ का कार्यभार आत्मानन्द पर सौंप दिया। आत्मानन्द अनलस भाव से मठ-निर्माण और प्रबन्ध के कार्य में लग गये। लगातार छः वर्षों तक कठोर परिश्रम करते रहने के कारण उनका स्वास्थ्य टूट गया और सन् १९०९ में उन्होंने आश्रम के कार्य-भार से अवकाश ले लिया। जब रामकृष्णानन्दजी ने श्रीमाँ सारदा देवी की दक्षिण-भारत की यात्रा का कार्यक्रम निश्चित किया, तब आत्मानन्द भी श्रीमाँ के साथ थे। इस यात्रा में जगज्जननी के साथ कुछ समय तक रहने की उनकी चिरपोषित साध पूरी हुई।

आत्मानन्द श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और स्वामी विवेकानन्द को ईश्वर के रूप में देखते थे। वे स्वामीजी को शिव के अंश से उत्पन्न मानते थे तथा उनके ग्रन्थों को शास्त्र मानकर पढ़ते थे। जब वे स्वास्थ्य-लाभ के लिए बेलुड़ मठ लौटे तो उन्होंने ब्रह्मचारियों को इसी दृष्टि से स्वामीजी के ग्रन्थों को पढ़ने की सलाह दी। उन्होंने समझाया, "एक भी शिव-वाक्य मिथ्या नहीं होता। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है। देखोगे, समय पाकर

उनकी सभी बातें सत्य सिद्ध होंगी। स्वामीजी ने एक भी शब्द का निरर्थक प्रयोग नहीं किया है। उनकी वाणी में कुछ भी कमोबेश नहीं है।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था, "ठाकुर, श्रीमाँ और स्वामीजी, ये ही भगवान् हैं। इनके समीप कातर होकर प्रार्थना करना।" आत्मानन्द 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' को आधुनिक युग का वेद मानते थे तथा स्वामीजी की वाणी को इसका भाष्य समझते थे। उनका कहना था कि जैसे बिना भाष्य के वेद को नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार ठाकुर की वाणी को बिना स्वामीजी के विचारों का अनुशीलन किये हृदयंगम नहीं किया जा सकता।

यद्यपि आत्मानन्द श्रीमाँ के साथ रामेश्वर, मद्रास, बँगलोर और पुरी की यात्रा करते हुए स्वास्थ्य-लाभ के लिए बेलुड़ मठ आये थे, पर वहाँ स्वास्थ्य में कोई सुधार न होते देख चिकित्सकों ने उन्हें स्थान-परिवर्तन का सुझाव दिया। अतः वे सन् १९१६ में सम्बलपुर आये। यहाँ उनके आगमन से आध्यात्मिकता की एक लहर उठी और नित्य-प्रति जिज्ञासु भक्त उनके समीप आने लगे। उनका स्वास्थ्य भी बड़ी तेजी से सुधरने लगा। सन् १९१९ में वे बेलुड़ मठ लौटे तथा कुछ ही महीनों बाद उन्हें ढाका-स्थित मठ का अध्यक्ष बनाकर भेज दिया गया। वहाँ से सन् १९२१ में वे भुवनेश्वर पहुँचे। कुछ समय पश्चात् स्वामी तुरीयानन्दजी के देहत्याग के कारण उन्हें काशी-स्थित सेवाश्रम के

संचालन के लिए काशी जाना पड़ा। इस जीवन्त शिवक्षेत्र में आकर आत्मानन्द का मन पूर्णतया अन्तर्मुखी हो चला और वे निरन्तर आत्मलीन रहने लगे।

स्वामी आत्मानन्द का जीवन तितिक्षा, अपरिग्रह और तपस्या से परिपूर्ण था। उनके वस्त्र अत्यन्त सामान्य थे। उन्हें उपहार में जो भी वस्तुएँ प्राप्त होतीं, वह सब वे तत्काल मठाध्यक्ष के पास भेज दिया करते। यद्यपि अपने स्वयं के परिधेय वस्त्रों की ओर उनका तनिक भी ध्यान नहीं था, पर उनका बिस्तर बहुत साफ-सुथरा और सुव्यवस्थित रहा करता। एक बार किसी के पूछने पर उन्होंने कहा था, "बेलुड़ मठ में स्वामीजी कभी कभी आकर शय्या पर बैठते थे। उनकी महासमाधि के बाद एक दिन मैंने स्वप्न में देखा कि वे आकर मेरी शय्या पर लेट गये हैं। तब से मैं हर समय उनके लिए बिस्तर तैयार करके रखता हूँ, पता नहीं वे कब आ जायँ!" यह कहते कहते उनका स्वर भाव से अवरुद्ध हो गया था। वे जब ध्यान में बैठते, तो उनका देह-भान जाता रहता। सम्बलपुर में निवास करते समय वे प्रायः पहाड़ की ओर निकल जाते थे। पहाड़ पर एक प्राचीन शिवलिंग था। वे उसके समीप बैठकर ध्यान किया करते। एक बार एक भक्त भी उनके साथ घूमने गया। आत्मानन्द नित्य की भाँति ध्यान में लीन हो गये। धीरे धीरे अन्धकार फैलने लगा, पर उनका ध्यान न टूटा।

इतने में भक्त ने देखा कि एक भयंकर बाघ वन से निकलकर उधर आ रहा है। भक्त की तो घिग्घी बँध गयी, पर वे वैसे ही समाधिस्थ रहे। थोड़ी देर में बाघ पुन: जंगल में चला गया। उस दिन भक्त के बहुत चिल्लाने पर तब कहीं उनका ध्यान टूटा था। इसी प्रकार एक बार ढाका में भी ध्यान करते समय एक महान् विषधर सर्प निकल आया था। सेवक के बहुत चीखने पर भी उनका ध्यान भग्न नहीं हुआ था।

इतने अन्तर्मुखी होते हुए भी आत्मानन्द का हृदय पीड़ितों और असहायों को देख द्रवित हो उठता था। वे उनमें साक्षात् नारायण के दर्शन करते थे। एक बार ढाका आश्रम में चिकित्सालय के रोगियों को पथ्य देने के पहले ही आश्रमवासियों को भोजन के लिए बैठे देख उन्होंने ताड़ना के स्वर में कहा था, "नारायण देव के भोग के पहले तुम लोग भोजन मत करना। तुम लोग खाने के लिए कैसे बैठ गये?"

आत्मानन्द का जीवन गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूतियों से भरा हुआ था। परन्तु वे वह सब यत्नपूर्वक छिपाकर रखते थे। एक बार उन्होंने स्वामी शुद्धानन्द को बताया था कि उन्हें एक विलक्षण स्वप्न दिखा। उन्होंने देखा कि वे श्रीमाँ सारदा देवी की गोद में शिशु-रूप में विद्यमान हैं और एक सागर में तैर रहे हैं। अन्त में उन्हें एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ। उन्हें लगा कि आनन्द की लहरें ऊपर

उठ रही हैं और चतुर्दिक प्लावित हो रही हैं। उनकी बाह्यचेतना पूर्णतया लुप्त हो गयी। जब वे बहुत देर के बाद प्रकृतिस्थ हुए, उन्होंने देखा कि वे एक नन्हे बालक के रूप में श्रीमाँ की भुजाओं में खेल रहे हैं। एक अन्य अवसर पर किसी भक्त ने उनसे पूछा था, "महाराज ! आपको ईश्वर-दर्शन हुआ है या नहीं ?" उन्होंने हँसते हँसते कहा था, "अरे, अगर मैंने एक भूत भी देखा होता, तो कहता कि मैंने कुछ देखा है।" फिर वे गम्भीर स्वर में बोले, 'देखो, स्वामीजी की कृपा से मन में कोई वासना नहीं रही।" बाद में उन्होंने कहा था, "रूप-दर्शनादि साधनाराज्य की कोई बहुत उच्च स्तर की बात नहीं है। आत्मोपलब्धि का जगत् रूप-दर्शनादि के ऊपर अवस्थित होता है। सभी साधकों को रूप-दर्शन नहीं होता।" एक बार और उनसे किसी भक्त ने अनुरोध किया था, "महाराज ! अपने दिव्य-दर्शन की बात बताइये।" आत्मानन्द ने सहास्य कहा था, "मैंने स्वामीजी की कृपा प्राप्त की है, उनके दर्शन किये हैं। अब अन्य दर्शन का कोई प्रयोजन नहीं है। उन्होंने कृपा करके यह कहा है कि उनकी आश्रित सन्तान यदि नरक में भी चली गयी, तो वे उनका वहीं जाकर उद्धार करेंगे।" देहत्याग के कुछ दिनों पहले भक्तों के बहुत अनुरोध करने पर उन्होने कहा था, "तुम लोग दर्शन का जो मतलब समझते हो, वैसा मुझे कभी नहीं हुआ। मैंने केवल एक दिव्य स्वप्न

ही देखा है। उसे सुनो। यदि तुम इसे दर्शन कहना चाहते हो, तो कह सकते हो। एक दिन रात को लेटे लेटे मैं सोच रहा था कि कुछ तो नहीं हुआ, मेरा सारा जीवन तो व्यर्थ चला गया। ऐसा सोचते सोचते मुझे लगा कि मैं सो गया हूँ। किन्तु मैं यह नहीं सोचता कि मुझे ठीक नींद ही आ गयी थी। हठात् मैंने देखा कि मेरे सामने दो ज्योतिर्मय चरण-चिह्न विद्यमान हैं। ये चरण-चिह्न किनके हैं, इसका पता मुझे उस समय तो नहीं लगा, पर बाद में मुझे ठीक ठीक प्रतीति हुई कि ये चरण-चिह्न श्रीमाँ के हैं। मेरे देखते ही देखते उन चिह्नों से ज्योति निकलकर मुझे घेरने लगी। मैं उस असीम ज्योति में पूर्णतः डूब गया। मैं यह नहीं जानता कि मैं कितनी देर तक इस स्थिति में रहा। पर मैं परम आनन्दित था। जैसे बच्चा माता की गोद में पूरी निश्चिन्तता और आनन्द से रहता है, मुझे ठीक वैसा ही लगा। मुझे लगा कि मैं बहुत दूर चला जा रहा हूँ। 'मैं हूँ या नहीं' यह भी मैंने नहीं जाना। सब कुछ मानो एकाकार हो गया था। उस आनन्द का नशा काफी देर तक बना रहा। बाद में मैंने बहुत सोचा कि यह सत्य था या स्वप्न? मैं अभी भी ठीक से नहीं कह सकता। शायद वह स्वप्न ही होगा। पर वैसा परमानन्द मुझे आज तक नहीं मिल सका। उसके लिए मेरा मन आज भी व्याकुल है।"

ऊपर कह चुके हैं कि काशी में अवस्थान करते

समय आत्मानन्द आत्मलीन रहने लगे थे। उन्हें उस समय भगवत्प्रसंग छोड़ और कोई चर्चा अच्छी नहीं लगती थी। उनका जीवन वहाँ के संन्यासियों और ब्रह्मचारियों के लिए बड़ा प्रेरणामय था। इन्हीं दिनों एक बार स्वामी शुद्धानन्द काशी पहुँचे। गुरुभाई को देखकर आत्मानन्द को बड़ी प्रसन्नता हुई, पर उनका स्वास्थ्य अधिक दिनों तक ठीक नहीं रह पाया। शुद्धानन्दजी के काशी-आगमन के ९-१० दिन बाद ही स्वामी आत्मानन्द ज्वर-शय्या पर पड़ गये। संयोग की बात, शुद्धानन्दजी भी ठीक उसी समय अचानक ज्वराक्रान्त हो गये। एक दिन पथ्य लेते समय आत्मानन्द ने शुद्धानन्द से कहा, "अब स्वामीजी की पुकार आ गयी। अब अपने बकरे की वे बलि देंगे। मेरा यह बुखार साधारण नहीं है। या तो टायफाइड है, या फिर निमोनिया।" उन्हें समझाया गया कि उनका अनुमान ठीक नहीं है, वे शीघ्र ही स्वस्थ हो उठेंगे, किन्तु उन्होंने अन्त तक यही कहा, "अच्छा, देख लेना, तुम्हारी बात सही निकलती है या मेरी। स्वामीजी के बकरे की बलि इस बार अवश्य होगी।" और उनकी बात ही सही निकली। स्वामी शुद्धानन्द तो स्वस्थ हो गये, पर आत्मानन्द का ज्वर नहीं छूटा। धीरे धीरे निमोनिया के उपसर्ग प्रकट होने लगे। चिकित्सकों के पूरे प्रयत्न के बावजूद उन्हें बचाया नहीं जा सका। १२ अक्तूबर, सन् १९२३ को सन्ध्या वेला में वे अपनी मर्त्य देह यहीं छोड़कर गुरुदेव के

अमर पादपद्मों में पहुँच गये ।

वस्तुत: स्वामी आत्मानन्द का जीवन कठोर तितिक्षा, वैराग्य और तपस्या का जीवन था । उनके छोटे से छोटे कार्य में उनके अद्‌भुत व्यक्तित्व की छाप बनी रहती थी । तभी तो उनके गुरुभाई स्वामी बोधानन्द ने लिखा था, "उनकी वह दिव्य मूर्ति आज भी मेरे मन के समक्ष विराजित है । मैं उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ । उनका पावन जीवन हमारे समक्ष एक ज्वलन्त आदर्श है । वह धर्ममार्ग के पथिकों के लिए ध्रुवतारे के समान है । स्वामी आत्मानन्द का जीवनचरित पढ़कर पाठकगण धन्य और कृतार्थ होंगे । उनके चरणों में मैं पुन: नमस्कार करता हूँ ।"

✤

तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो । तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो । तुम भला पापी ! मनुष्य को पापी कहना ही पाप हैं, वह मानव-स्वभाव पर घोर लांछन है । उठो ! आओ ! ऐ सिंहों ! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो, तुम तो जरा-मरण-रहित नित्यानन्दमय आत्मा हो ।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्म बनाम अधर्म

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

धर्म क्या है ? धर्म का सरल अर्थ है---'धारणात् धर्म इत्याहु:'---जो धारण करे। जो समाज का धारण करे तथा जिससे समाज सुरक्षित रहे, वही धर्म है। समाज सुरक्षित कब रहेगा? ---जब प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करेगा तथा अपने कर्तव्य का पालन करेगा। पर जहाँ व्यक्ति केवल अपनी ही व्यक्तिगत कामनाओं को दृष्टि में रखकर कार्य करेगा; व्यक्तिगत स्वार्थ को लेकर जीवन बितायेगा; समाज, राष्ट्र अथवा विश्व के लोगों की आवश्यकताओं तथा अपेक्षाओं पर ध्यान नहीं देगा, वहाँ अधर्म होगा। रावण का चरित्र अधर्म का प्रतीक है। सांकेतिक गाथा आती है कि रावण का जन्म लंका में नहीं हुआ। गोस्वामीजी ने उसके जन्म की बात लिखने की आवश्यकता नहीं समझी। वे उसका वर्णन उसके बड़े होने के बाद करते हैं। जब वह बड़ा हुआ, तो चारों ओर भ्रमण करने लगा। भ्रमण में उसने स्वर्णमयी लंका को देखा। बस, इसे देखते ही उसके मन में बड़ा प्रलोभन जाग उठा और सेना ले उसने इस पर आक्रमण कर दिया। वहाँ के निवासी यक्ष आदि भाग खड़े हुए और इसके पश्चात्---

सुन्दर सहज अगम अनुमानी।
कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥ १/१७८/६

—उसने उसे स्वाभाविक, सुन्दर तथा दुर्गम जान अपनी राजधानी बना ली।

गोस्वामीजी का व्यंग्य यह है कि रावण की दृष्टि में प्रश्न यह न था कि कौनसा देश मेरा है ? उसका मनोभाव यह था कि जो देश समृद्धिशाली हो, उस पर अपना अधिकार जमा लिया जाय; क्योंकि जिसके पास शक्ति हो, देश उसी का है। यह उल्टी पद्धति की बात है। उल्टी पद्धति का तात्पर्य यह है कि रावण जहाँ पैदा हुआ, वह उसका देश नहीं है, वरन् जो उसे अच्छा लगे, सुन्दर लगे, वही उसका देश है; और ऐसे देश को अपने बल के द्वारा, क्षमता के द्वारा छीन लेना चाहिए, यह रावण की दृष्टि है। उसने लंका को समृद्धिशाली, स्वर्णमयी देखा और इसलिए उसे छीन लिया। पर यह तो पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ तो तब होता, जब वह साधारण-सी भूमि ले उसे समृद्धिशाली बना देता। छीनकर लेना तो स्वार्थ की वृत्ति है, अधर्म है, पर यही रावण का जीवन-दर्शन है। उसका विवाह किस प्रकार हुआ ? यहाँ भी उसकी वही स्वार्थ-दृष्टि दिखलायी पड़ती है——

देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि।

जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि ॥१/१८२

——जहाँ भी उसे सौन्दर्य दिखायी पड़ा, कमनीय नारियाँ दिखीं कि उन्हें अपनी भुजाओं के बल से छीनकर उनसे विवाह कर लिया। उसने सुना कि कुबेर के पास विमान है। उसे लगा, कुबेर को विमान की क्या आवश्यकता

है ? विमान तो रावण के पास होना चाहिए। बस,

एक बार कुबेर पर धावा।

पुष्पक जान जीति लै आवा ॥१/१७८/८

--उसने कुबेर पर धावा बोल दिया और उसका पुष्पक विमान जीत लिया। जिसकी जो चीज उसे अच्छी लगी, उसने छीन लिया और जो उसे अप्रिय लगा, उसे उसने उजाड़कर नष्ट कर दिया। दूसरे की लंका को छीनकर उसने अपनी राजधानी बना ली, स्वयं राजा बन बैठा और शासन चलाने लगा।

जब हनुमानजी नागपाश में बँधकर उसकी सभा में गये, तो इसके पीछे एक कारण था। हनुमानजी उसे शिक्षा देना चाहते थे। जब रावण ने हनुमानजी की ओर देखा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज तक जो भी उसकी सभा में आया, वह उसके ऐश्वर्य और भव्यता को देख भयभीत हो गया था, पर यह बन्दर जो एक कैदी के रूप में सामने खड़ा है, तनिक भी भयभीत नहीं है, उसके मुख पर भय के कोई चिह्न नहीं हैं। उसे बड़ा क्रोध आया--

कपिहि बिलोकि दसानन बिहसा कहि दुर्बाद।

सुत बध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदयँ बिषाद ॥५/२०

--पुत्र-वध की याद आते ही उसका हृदय विषाद से भर उठा और वह क्रोध में भरकर हनुमानजी से प्रश्न करने लगा। उसका पहला प्रश्न था--

कह लंकेश कवन तैं कीसा।५/२०/१

––अरे बन्दर ! तू कौन है ?

उसका दूसरा प्रश्न यह था––

केहि कें बल घालेहि बन खीसा ।५/२०/१

––तूने मेरी वाटिका क्यों उजाड़ी ?

वह आगे कहता है—

की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही ।
देखउँ अति असंक सठ तोही ॥ ५/२०/२

––अरे दुष्ट ! तू तो बड़ा निश्शंक लग रहा है । क्या तूने मेरे बारे में कुछ सुना नहीं ?

हनुमानजी को यह सुन बड़ी हँसी आयी कि निश्शंकता दुष्टता का भी लक्षण हो सकती है । क्या स्वयं रावण निश्शंक नहीं था ? गोस्वामीजी उसके बारे में लिखते हैं––

तहँ रह रावन सहज असंका । ४/२७/११

––रावण लंका में स्वयं तो निश्शंक हो राज्य करता है और यहाँ हनुमानजी से कहता है कि तू बड़ा निश्शंक है । रावण खुद निश्शंक हो तो वह गुण है और यदि हनुमानजी निश्शंक हो जाते हैं, तो वे दुष्ट हैं ! इसका अभिप्राय यह है कि रावण दोहरा मापदण्ड लगाता है–– अपने लिए और तथा दूसरे के लिए कुछ और । रावण को क्रोध क्यों आया ? यह देखकर कि––

देखउँ अति असंक सठ तोही ।

––मैं तो केवल अशंक हूँ, पर यह दुष्ट तो अति अशंक है । यहाँ पर व्यंग्य क्या है ? सिंहासन पर बैठकर अशंक होना

सरल है, पर नागपाश में बँधे हुए खड़ा होना, फिर भी भयभीत न होना यह तो अति अशंकता का ही लक्षण है। रावण को आश्चर्य होता है कि बन्दर भयभीत नहीं हो रहा है। जिनका जीवन अधर्मपूर्ण होता है, उनकी प्रकृति ही ऐसी होती है। ऐसी बात नहीं कि वे धर्म के बारे में न जानते हों। जब भी स्वयं के स्वार्थ की बात आती है, वे धर्म की चर्चा उठाते हैं। रावण ने हनुमानजी से पूछा कि तूने मेरी वाटिका का फल क्यों खाया, राक्षसों को क्यों मारा, मेरी वाटिका क्यों उजाड़ी ? हनुमानजी रावण की ओर देखने लगे, मानो कह रहे हों, रावण ! ये प्रश्न करते तुम्हें लज्जा नहीं आती ? तुमने स्वयं इतने नगरों और गाँवों को उजाड़ा; उस समय क्या तुमने कभी सोचा था कि मैं इन्हें क्यों उजाड़ रहा हूँ ? फिर तुम स्वयं यह मानते हो कि--

नर कपि भालु अहार हमारा।६/७/९

--नर और वानर-भालू हमारे भोजन हैं। तुमने जब उन्हें खाया, तब तो यह प्रश्न तुम्हारे भीतर नहीं उठा ? और आज मैंने फल खा लिया, तो तुम्हें इतना क्रोध आ गया ! यह कैसा न्याय है ? रावण ने जब हनुमानजी से कहा-- तूने मेरी वाटिका का फल खाया, क्या यह चोरी नहीं ? तब यह सुनकर हनुमानजी सोचते हैं कि आज चोर ही न्यायाधीश के आसन पर बैठा न्याय की बात कर रहा है, जगज्जननी को चुराकर लानेवाला न्याय करने बैठा है !

यही अधार्मिक व्यक्ति की प्रवृत्ति है। वह धर्म की बात, न्याय की बात तब उठाता है, जब उसके स्वार्थ में बाधा पड़ती है। यह तो वैसी ही बात हुई, जैसे चार चोर मिलकर चोरी करें और कहने लगें कि बँटवारा ईमानदारी से होना चाहिए। चोरी करते समय तो बेईमानी और बँटवारे के समय ईमानदारी ! यही बात बाली के प्रसंग में भी लागू होती है।

भगवान् राम बाली को मारते हैं और उसके सामने जाकर खड़े हो जाते हैं। वे चाहते तो उसे बिल्कुल समाप्त कर देते और जब तक वह मर न जाता, उसके सामने न आते। पर वे ऐसा नहीं करते। वे उस पर बाण चलाकर उसके सामने जान-बूझकर खड़े हो जाते हैं——यह सुनने तथा दूसरों को दिखाने के लिए कि स्वार्थी प्रकृति के लोग किस प्रकार बोलते हैं। उन्हें देख बाली ने कहा——

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं।
मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ।। ४/८/५

——'महाराज ! आप तो धर्म की रक्षा के लिए आये हैं।' भगवान् को उसकी बात सुन बड़ी हँसी आयी कि आज जब इसे बाण लगा, तो धर्म की दुहाई दे रहा है, पर जब इसने अपने भाई की स्त्री छीनी, तब इसका धर्म कहाँ गया था ? भगवान् का तात्पर्य यह था कि जब तुम्हें इतनी बात मालूम है कि मैं धर्म की रक्षा के लिए अवतार लेता हूँ, तो अपने प्रश्न का उत्तर तुमने स्वयं ही दे दिया है। जब तुम कहते हो——'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं,'

तो इसका अभिप्राय यह है कि तुम मुझे पहचानते हो तथा तुम धर्म के बारे में भी जानते हो। ईश्वर के सम्बन्ध में तुम्हारा ज्ञान श्रेष्ठ है। पर क्या तुमने अपनी क्रियाओं को कभी धर्म की कसौटी पर कसकर देखा है? भगवान् ने उसे याद दिलाया--

अनुज बधू भगिनी सुत नारी।
सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई।
ताहि बधें कछु पाप न होई॥४/८/७-८

--क्या तुम्हें मालूम नहीं कि छोटे भाई की स्त्री, बहिन, पुत्र की स्त्री और कन्या ये चारों समान हैं और जो इन्हें बुरी दृष्टि से देखता है, उसे मारने में कोई पाप नहीं?

बाली ने भगवान् पर दूसरा आरोप लगाया--

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा।
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥ ४/८/६

--मैं शत्रु हो गया और सुग्रीव आपका स्नेहपात्र, यह कैसी बात! आपको तो समता का व्यवहार करना चाहिए। आप ईश्वर हैं। आपने ऐसा विषम व्यवहार क्यों किया?

यह बात कौन कर रहा है? वह, जो स्वयं महाभेदवादी था। वह सुग्रीव पर केवल इसलिए रुष्ट हो गया था कि वह उसके सिंहासन पर बैठ गया। गोस्वामीजी लिखते हैं--

देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा। ४/५/१०

--सुग्रीव को सिंहासन पर बैठे देख उसके मन में महान्

भेद उत्पन्न हो गया। उसे इतना क्रोध आया कि वह यह भी न सोच सका--जरा सुग्रीव से पूछ तो लें कि वह किन परिस्थितियों में सिंहासन पर बैठा है। इस प्रकार जो स्वयं महाभेदवादी है, वह समता की बात उठाता है। जिसके जीवन में धर्म का लेश नहीं, वह धर्म की बात करता है। यही अधार्मिक व्यक्ति की प्रवृत्ति है। अंगद ने व्यंग्य करते हुए रावण से कहा था--रावण! तुम धर्म की बात कर रहे हो, पर मैं तो तुम्हारे धर्म-ज्ञान की श्रेष्ठता के बारे में हनुमानजी से पहले ही सुन चुका हूँ--

कह कपि तव गुन गाहकताई।
सत्य पवनसुत मोहि सुनाई॥
बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा।
तदपि न तेहिं कछु कृत अपकारा॥ ६/२३/५-६

--तुम्हारी गुणग्राहकता का आर-पार नहीं है। हनुमान ने तुम्हारा अशोक-वन उजाड़ दिया, पुत्र को मार लंका जला दी, पर फिर भी तुमने उसका अपकार न माना। कितनी महानता है तुम्हारी! इससे बढ़कर धर्म का क्या कोई दृष्टान्त हो सकता है!

तात्पर्य यह है कि अधार्मिक प्रवृत्तिवाला व्यक्ति धर्म का नाम भले ही ले ले, पर उसका जीवन, उसका विचार-केन्द्र स्वार्थपरक होता है। अपनी वासना और स्वार्थ को चरितार्थ करने के लिए उसे कोई भी क्रिया करने में तनिक भी संकोच नहीं होता। हनुमानजी ने रावण से किंचित् व्यंग्य करते हुए कहा--रावण! तुम मुझसे

पूछते हो कि मैंने तुम्हारी वाटिका का फल क्यों खाया, उसे क्यों उजाड़ा, तो तुमसे भी पूछा जा सकता है कि--

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं।
नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ॥१/१८२/६

--जहाँ जहाँ गौ-ब्राह्मण पाये, उन नगरों और गाँवों में आग क्यों लगायी ? उन्हें क्यों उजाड़ा ? मैंने तो फल इसलिए खाया कि--

खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा। ५/२१/३

--मुझे भूख लगी थी। हनुमानजी का व्यंग्य यह था कि अगर भूखा व्यक्ति फल खा ले, तो वह चोरी हो गयी, किन्तु पेटभरा व्यक्ति चीजों को नष्ट करता जाय, तो वह चोरी नहीं ! यह कैसा न्याय है ? रावण के यह पूछने पर कि फल तुमने खाया तो खाया, पर मेरी वाटिका क्यों उजाड़ी, हनुमानजी बोले--

कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा। ५/२१/३

--इसलिए कि यह मेरा स्वभाव है !

अब यदि न्यायालय में पकड़कर लाया गया व्यक्ति यह कहे कि मैंने चोरी इसलिए की कि मुझे उसकी आवश्यकता थी तथा तोड़फोड़ और आग इसलिए लगायी कि यह मेरा स्वभाव है, तो क्या होगा ? अगर उसे कम दण्ड मिलने का होगा, तो अधिक मिलेगा। तब जिन हनुमानजी को हम 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' कहते हैं, उन्होंने ऐसा उत्तर क्यों दिया ? इस प्रश्न का उत्तर दिखने में तो सीधा है, पर है बड़ा तीखा। कभी कभी सीधी बात

भी बड़ी तीखी होती है। हनुमानजी के उत्तर में एक तीव्र व्यंग्य था और वह रावण के पाण्डित्य के लिए एक चुनौती था। हनुमानजी को पता था कि रावण को शूर्पणखा द्वारा यह समाचार मिल चुका है कि उसके भाई खर-दूषण तथा चौदह हजार राक्षसों का संहार केवल एक ही व्यक्ति ने कर दिया है। एकान्त के क्षणों में रावण सोचने लगा कि क्या किसी एक सामान्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह ऐसा कार्य कर सके? तुरन्त उसके विवेक ने कहा——नहीं, यह किसी सामान्य व्यक्ति का कार्य नहीं——

खर दूषन मोहि सम बलवंता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥ ३/२२/२

——खर-दूषण तो मेरे ही समान बलशाली थे। सिवा भगवान् के उन्हें और कौन मार सकता है? यह तो ईश्वर का ही कार्य लगता है। निस्सन्देह ईश्वर का अवतार हो गया है। रावण को मानो प्रेरणा मिली कि भगवान् अवतरित हो गये हैं, अतः उनके प्रति समर्पण करना चाहिए। इस प्रकार रावण के मन में ज्ञान का उदय तो होता है, पर वह उस ज्ञान के अनुसार कार्य नहीं कर पाता। जब हमें ज्ञान हो जाय, तो उचित यह है कि उसे कार्य रूप में परिणत करें। रामायण में एक सुन्दर बात आती है। ये नेत्र क्या हैं?——

ग्यान बिराग नयन उरगारी। ७/११९/१४

——ज्ञान और वैराग्य ये दो नेत्र हैं। दोनों नेत्र आवश्यक

हैं। एक के होने से काम नहीं चलेगा। जहाँ ज्ञान आया कि वैराग्य को भी लाना चाहिए। अगर ज्ञान का नेत्र हुआ और विराग का न हुआ, तो सारा ज्ञान व्यर्थ ही होगा। किसी व्यक्ति को यह ज्ञान हो कि अमुक कार्य अच्छा है पर वह उसे कर न पाये तथा दूसरे को यह ज्ञान हो कि अमुक कार्य ठीक नहीं पर वह उससे मुक्त न हो सके, तो ऐसे ज्ञान से क्या लाभ? एक सज्जन ने कहा कि डाक्टर बीमार पड़ गये। दूसरे ने कहा, तुम भी बड़ी विचित्र बात कहते हो। वे डाक्टर होने के कारण बीमार नहीं पड़े। बीमार इसलिए पड़े कि वे अपने डाक्टरी ज्ञान को उपयोग में नहीं लाये। डाक्टर यदि कुपथ्य करेगा, तो वह उसके लिए उतना ही हानिकारक होगा, जितना दूसरे के लिए। और जब वह इस जानकारी का उपयोग करेगा, तभी स्वास्थ्य-लाभ कर सकेगा। जानकारी का उपयोग करना ही विराग है।

एक प्रसंग आता है। जिस समय भगवान् वामन बलि की यज्ञशाला में पहुँचे, बलि ने बड़े आदर के साथ उनका स्वागत किया। उनकी पूजा-अभ्यर्थना कर उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे आज्ञा दें आपकी क्या सेवा करूँ। शुक्राचार्य भी वहीं थे। वे तुरन्त पहिचान गये कि ये अतिथि और कोई नहीं साक्षात् भगवान् हैं। वे तुरन्त बलि का हाथ पकड़ उन्हें एकान्त में ले गये और बोले--'तुम जानते हो, वामन के रूप में ये जो आये हैं वे कौन हैं?' बलि ने कहा--'महाराज! मुझे तो

नहीं मालूम ये कौन हैं ? कोई ब्रह्मचारी प्रतीत होते हैं।' शुक्राचार्य बोले--'अरे नहीं, ये ब्रह्मचारी-संन्यासी नहीं, साक्षात् भगवान् हैं। तुम बड़े मूर्ख हो जो इन्हें वचन दे रहे हो कि आप जो माँगेंगे, मैं दूँगा। अभी भी समय है, जाकर वचन वापस ले लो।' बलि ने कहा--'महाराज ! अब चाहे ये भगवान् ही क्यों न हों, मैं अपना वचन अवश्य पूरा करूँगा। मैं उसे वापस नहीं ले सकता।' शुक्राचार्य को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने बलि को शाप दे दिया कि तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है; जा, तेरा सर्वनाश हो जाय ! उन्होंने शाप तो दे दिया, पर बलि के प्रति उनकी ममता न गयी। जब संकल्प के लिए पात्र से जल ढाला जाने लगा, तो वे सूक्ष्म रूप से पात्र के छिद्र में जा बैठे ताकि जल न गिर पाये और संकल्प न हो सके। भगवान् ने बलि से जलपात्र ले जल निकालने की चेष्टा की। इसके फलस्वरूप शुक्राचार्य की एक आँख फूट गयी। भगवान् के इस कार्य का अभिप्राय यह था कि शुक्राचार्य ! तुम्हारे ज्ञान का नेत्र तो ठीक था, तुम पहिचान तो गये थे कि मैं कौन हूँ, पर पहिचानकर भी तुम अपनी ममता नहीं त्याग पाये, अपने यजमान को शिक्षा देने लगे कि इन्हें कुछ मत दो। मुझे जानकर मेरे प्रति समर्पण करने के बदले तुमने उल्टी शिक्षा दी, इसीलिए तुम्हारे वैराग्य का नेत्र फूट गया। तुममें वैराग्य का सर्वथा अभाव है।

यही व्यंग्य उपस्थित होता है समुद्र-मन्थन की गाथा में। एक ओर देवतागण हैं और दूसरी ओर असुर, तथा भगवान् मोहिनी के वेश में अमृत-वितरण कर रहे हैं। देवताओं को चतुराई से अमृत दे रहे हैं और दैत्यों को सुरा। इन देवताओं और दैत्यों में एक अनोखा व्यक्ति है--राहु। उसने पहिचान लिया कि मोहिनी के रूप में और दूसरे कोई नहीं, भगवान् ही हैं। इस पहिचान के दो परिणाम हो सकते थे। यदि वह अपनी जाति का हितैषी होता, तो दैत्यों से तुरत कह देता कि भाइयो, देखो तुम्हारे साथ छल हो रहा है ; पहिचान लो, ये भगवान् हैं, मोहिनी के रूप में आये हुए हैं, तुम्हें ठग लेंगे; इनके वितरण से देवताओं को अमृत मिलेगा और हमें विष। अथवा वह स्वयं भगवान् से कहता कि प्रभो, मैंने आपको पहिचान लिया है, आप मुझे अमृत दे दीजिए। पर उसने क्या किया ? वह भगवान् के पास नहीं गया, यह सोचकर कि दैत्य जान अमृत दें या न दें। उसने भगवान् को जाना अवश्य, पर उसे भगवान् पर विश्वास न आया। दूसरी ओर, उसे अपनी जाति की चिन्ता भी नहीं हुई। उसने तो यह चाहा कि मैं अमृत पा लूँ, बाकी जाति भले ही भाड़ में जाय ! बस, वह नकली वेश बना देवताओं की पंक्ति में बैठ गया। भगवान् मोहिनी के रूप में अमृत बाँटते आये और उन्होंने उसके भी पात्र में अमृत ढाल दिया। वह उसे उठाकर पी गया। उसके दोनों

बाजुओं में सूर्य और चन्द्र बैठे हुए थे। उन दोनों ने पहिचान लिया कि यह व्यक्ति अपनी जाति का नहीं, यह तो दैत्य प्रतीत होता है। उन्होंने तुरन्त भगवान् को संकेत किया कि आपने दैत्य को अमृत दे दिया। भगवान् ने अपना चक्र चलाया और राहु का सिर कटकर गिर गया। पर वह मरा नहीं, क्योंकि अमृत का पान कर चुका था। इसीलिए वह अब तक सूर्य तथा चन्द्र से ग्रहण के रूप में अपना बैर भँजाता रहता है। सूर्य और चन्द्र को भूल क्या हुई? वे भगवान् को बताने लगे कि देखिए, आप नहीं पहिचान पाये कि यह दैत्य है और हम पहिचान गये! हम आपको भी पहिचान करा दे रहे हैं! क्या भगवान् नहीं जानते थे कि यह दैत्य है? यह तो उनकी अपार करुणा थी कि जिस व्यक्ति ने उन्हें पहिचान लिया, वह चाहे जो भी हो, उसे अमृत दे दिया। जिसने भगवान् को जान लिया, वह तो अमृत का अधिकारी हो ही गया। पर ये दोनों भलेमानस ईर्ष्यालु थे न। वे चाहते थे कि केवल हमीं अमर हों और दूसरे न हो पायें। इसीलिए राहु उन पर अपना बदला निकालता है। जो हो, भगवान् का चक्र चला और राहु के शरीर के दो टुकड़े हो गये, सिर अलग और धड़ अलग, और ये दोनों ही जीवित रहे। आज भी यह राहु-वृत्ति संसार में बहुलता से व्याप्त है। सिर कहीं जाता है, धड़ कहीं और। हम सोचते कुछ हैं तथा करते कुछ और। यही राहु-केतु की

वृत्ति है। सिर यानी राहु मानो ज्ञान का प्रतीक है तथा धड़ यानी केतु कर्म का। ज्ञान और कर्म का यह अन्तर हमें सर्वत्र देखने में आता है। अपने जिस ज्ञान को हम अपने कार्यों में, अपने जीवन में न उतार पायें, हमारे ऐसे ज्ञान से लाभ क्या?

रावण में यही बात दृष्टिगत होती है। वह महापण्डित है; परम ज्ञानवान है तथा उसे भगवान् राम के ईश्वरत्व की जानकारी भी हो गयी है, जो कि लोगों को अत्यन्त कठिनाई के बाद होती है। यही नहीं, उसका विवेक उससे कहता भी है कि अब भगवान् के प्रति समर्पण करो, उनका भजन करो। पर रावण का रावणत्व उसका पीछा नहीं छोड़ता। वह कह उठता है--

होइहि भजनु न तामस देहा।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥ ६/२२/५

--इस तामस देह के द्वारा भजन नहीं हो सकता। रावण के इस कथन में कितनी यथार्थता, कितनी सचाई और कितनी गहराई है। उसका सारा ज्ञान, सारा पाण्डित्य व्यर्थ हो जाता है। अब इसे हनुमानजी के कथन से मिलाइए। हनुमानजी ने रावण की सभा में कहा कि बन्दर का स्वभाव होने के कारण मैंने वाटिका उजाड़ी। इसमें व्यंग्य यह था कि हे रावण! सारी सुविधाएँ प्राप्त होने के बावजूद तुम कहते हो कि तुमसे भजन नहीं हो सकता, तुम अपना स्वभाव नहीं बदल पाये और मुझसे, एक बन्दर से, आशा रखते हो कि वह

अपना स्वभाव बदल ले ! ऐसा सोचना क्या तुम्हें शोभा देता है ? तुम भला क्या न्याय करोगे ? इससे बढ़कर लज्जा की बात क्या हो सकती है कि तुम पशु से तो धर्मपालन की आशा रखो तथा स्वयं मनुष्य होने का दावा करते हुए, पण्डित होने की डींग भरते हुए धर्म का अपमान करो ?

तात्पर्य यह है कि रावण का चरित्र केवल रावण का ही नहीं वरन् उस प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र है, जिसका जीवन अधर्ममय है। उसकी प्रवृत्ति ही यह होती है कि वह प्रत्येक वस्तु दूसरों से छीने, अपने स्वार्थ की सिद्धि करे और धर्म का नाम तब ले, जब उसके स्वार्थ की चोट लगे। यह अधर्म है, जो रावण के रूप में सर्वत्र और सतत विद्यमान है।

गीता प्रवचन-१९

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ २/१७ ॥

(विद्धि) जान (येन) जिससे (इदं) यह (सर्वं) सारा (ततं) व्याप्त है (तत्) वह (तु) तो (अविनाशि) अविनाशी है (अस्य अव्ययस्य) इस अव्यय का (विनाशं कर्तुं) विनाश करने में (कश्चित्) कोई भी (न अर्हति) समर्थ नहीं है ।

"तू यह जान ले कि जिसके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है, वह तो अविनाशी है, क्योंकि इस अव्यय का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है ।"

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ २/१८ ॥

(अनाशिनः) नाशरहित (अप्रमेयस्य) अमाप (नित्यस्य) नित्य (शरीरिणः) शरीरी [आत्मा] के (इमे) ये (देहाः) शरीर (अन्तवन्तः) नाशवान् (उक्ताः) कहे गये हैं (तस्मात्) इसलिए (भारत) हे भरतवंशी अर्जुन (युध्यस्व) युद्ध कर ।

"नाशरहित, अमाप, नित्य, शरीरी आत्मा के ये सारे शरीर नाशवान् कहे गये हैं । अतएव हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ।"

पूर्व प्रवचन में १६ वें श्लोक पर चर्चा करते हुए हमने कहा था कि प्रस्तुत दो श्लोकों में सत् और असत् की परिभाषाएँ दी गयी हैं । भगवान् ने अर्जुन को सत् और असत् के विवेचन के माध्यम से आत्मा एवं अनात्मा का पार्थक्य प्रदर्शित किया । उन्होंने कहा कि जो सत् है,

वह कभी भी अ-सत् नहीं हो सकता तथा असत् कभी भी सत् नहीं हो सकता। साथ ही यह भी कहा कि सत् का अभाव कभी नहीं होता और असत् का भाव कभी सम्भव नहीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा सदैव है और अनात्मा कभी नहीं है। हमने विवेचन करते हुए यह भी कहा था कि सत् का अर्थ 'नित्य सत्य' एवं असत् का अर्थ 'अनित्य सत्य' भी लगाया जा सकता है। अनित्य सत्य भले ही बीच में थोड़ी देर के लिए अस्तित्ववान मालूम पड़े, पर न तो वह पहले था, न बाद में रहेगा। संसार के समस्त नाम-रूपवाले पदार्थ अनित्य सत्य की ही श्रेणी में आते हैं। उनका अस्तित्व स्वप्न के समान है, रस्सी में भ्रम से देखे गये सर्प की तरह है। अब इन दो श्लोकों में श्रीभगवान् सत् और असत् को और भी खुलासा करते हुए समझाते हैं।

१७ वें श्लोक में कहते हैं कि सत् वह है, जो अविनाशी है। और अविनाशी कौन है ?--वह, जिसके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। वह अविनाशी क्यों है ?--इसलिए कि वह अव्यय है और इस अव्यय का नाश कोई भी नहीं कर सकता। 'ततम्' शब्द का अर्थ है--फैलाना, व्यापना, सुरक्षित रखना। अविनाशी वह है, जो इस जगत् को फैलाता है और उसमें व्याप्त हो जाता है। यह अबिनाशी समस्त नाम-रूपों में अनुस्यूत सत्ता है। विनाश तो उसका होता है, जो सीमित है। जो भी पदार्थ सीमित है, उसका जन्म होता है और इसलिए उसका

विनाश भी होता है। पर जो सबमें ओत-प्रोत असीम सत्ता है, उसका कभी जन्म नहीं होता, और इसलिए उसका नाश भी कभी नहीं होता।

'अव्यय' शब्द से यह सूचित किया कि जो सत् है, उसमें किसी प्रकार का व्यय या परिणाम या परिवर्तन नहीं होता। 'अविनाशी' से यह सूचित किया कि सत् सदैव सद्-रूप ही रहता है, उसकी सद्-रूपता का कभी विनाश नहीं होता। परिणाम या परिवर्तन तो तब होता है जब किसी पदार्थ के अंगों या अवयवों में परिवर्तन होता है। यदि कोई वस्तु अवयववान है, तो अवयव के घटने-बढ़ने से उसके नाश और वृद्धि का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। जैसे, वस्त्र तन्तुओं के संयोग से बना है। यदि हम तन्तुओं को अलग अलग कर दें अथवा जला दें, तो वस्त्र नष्ट हो जायगा। पर जो सत् है, वह अवयव-विहीन है। यह बात 'ततम्' से सूचित की गयी। जो सारे ब्रह्माण्ड को व्याप ले, उसका भला कैसा अवयव ? जिसके अवयव नहीं, उसमे किसी प्रकार का व्यय भी नहीं। अतएव जो सत् है, वह अव्यय है।

वेदान्त दर्शन 'सच्चिदानन्द' को सत् का पर्याय मानता है, क्योंकि सत्, चित् और आनन्द में कभी स्वरूप का परिवर्तन नहीं देखा गया; अर्थात् सत् कभी असत् नहीं होता, चित् का कभी विनाश नहीं होता, और जहाँ सत् और चित् है, वहाँ आनन्द तो रहेगा ही। यदि यह कहा जाय कि सत् का भी अभाव होता है, तो उस अभाव

का ग्रहण कौन करेगा ? सत्ता के अभाव का ग्रहण करनेवाला भी कोई सद्-रूप ही होगा। और जब अभाव का ग्रहण करनेवाला सत् विद्यमान है, तो फिर सत्ता का अभाव कहाँ हुआ ? इसी प्रकार चित् का यानी ज्ञान का कभी अभाव नहीं होता। यदि यह मानें कि ज्ञान का अभाव होता है, तो उस अभाव को जाननेवाला कौन है ? जो ज्ञान के अभाव को जानेगा, वह ज्ञानरूप ही होगा, और इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान का कभी नाश नहीं होता। आनन्द सत्ता और ज्ञान इन दोनों से अलग नहीं है। अतएव सत्ता, ज्ञान और आनन्द उस सत् के ही रूप हैं।

इस प्रकार उक्त श्लोक में यह बताया कि सत् क्या है। सत् वह है, जो अविनाशी और अव्यय है। विनाश और व्यय इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अन्तर है। जसे देह है, वह बढ़ती है और घटती है। आहार और पोषण पाकर वह बढ़ती है। यदि उसे भोजन न मिले, तो वह घटती है। इसे कहेंगे 'व्यय'। 'व्यय' का मतलब होता है घटना-बढ़ना। देह से प्राण निकल गये, तो वह मर गयी। यह देह का 'विनाश' हुआ। सत् में न इस प्रकार कोई 'व्यय' होता है, न 'विनाश'। इसलिए वह अव्यय है, अविनाशी है।

फिर, नाश के छः सोपान हैं, जिन्हें 'षड्विकार' कहा जाता है—— जायते, अस्ति, वर्धते, परिणमते, क्षीयते, नश्यते। जो नहीं था, वह जन्म लेता है, यह 'जायते' हुआ। वह जन्म लेकर अस्तित्ववान हुआ, यह 'अस्ति' हुआ।

फिर वह बढ़ता है, यह 'वर्धते' हुआ। तत्पश्चात् उसमें परिवर्तन होते हैं, परिणाम होते हैं, वह बदलता रहता है, यह 'परिणमते' हुआ। धीरे धीरे उसमें क्षरण होता है, वह छीजता है, यह 'क्षीयते' हुआ। अन्त में उसका नाश होता है, यह 'नश्यते' हुआ। हमारा शरीर इन सारे छः विकारों से गुजरता है। यही विनाश की प्रक्रिया है। यह सत् इसलिए अव्यय और अविनाशी है कि इसमें उपर्युक्त छः विकारों में से एक की भी विक्रिया नहीं होती। वह हरदम है, अतएव उसके जन्म का कोई प्रश्न नहीं। उसके कोई अंग-प्रत्यंग नहीं, इसलिए जन्म लेना, बढ़ना, विकृत होना, छीजना और नष्ट होना यह कुछ भी उस पर लागू नहीं होता। इसीलिए कहा गया कि 'अस्य अव्ययस्य विनाशं न कश्चित् कर्तुम् अर्हति'--इस अव्यय का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

अब १८ वें श्लोक में यह बताते हैं कि असत् कौन है। असत् वह है, जिसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। असत् की सत्ता थोड़ी देर के लिए भले ही दिखायी देती हो, पर अन्ततः उसका विनाश हो जाता है। यह विनाशी सत्ता भी सत् की सत्ता का आधार लेकर ही खड़ी होती है। शरीर विनाशी है, असत् है। वह दिखायी देने से पूर्व नहीं था और विनष्ट होकर फिर से अदृष्ट हो जायगा। पर शरीर की यह अनित्य सत्ता शरीरी आत्मा की नित्य सत्ता पर खड़ी होती है। इसे 'प्रातिभासिक सत्ता'

कहकर पुकारा जाता है । यह प्रातिभासिक सत्ता सिद्धान्त की दृष्टि से वस्तुतः काल्पनिक सत्ता ही हुआ करती है ।

विवेच्य श्लोक में शरीरी आत्मा के लिए एकवचन प्रयुक्त हुआ है तथा देह के लिए बहुवचन । इसका तात्पर्य यह है कि एक ही आत्मा अनन्त देहों में रहता है । देहों की भिन्नता से आत्मा में भिन्नता नहीं होती । जैसे एक ही सूर्य हजारों जलाशयों में प्रतिबिम्बित होता है तथा जलाशय के गुण के अनुसार मलिन, स्वच्छ, स्थिर या प्रकम्पित दिखायी देता है, उसी प्रकार वही एक आत्मा इन समस्त देहों में प्रतिबिम्बित होता है और देह-मन के अनुसार अलग अलग भासित होता है । पर है आत्मा एक ही । वह शरीर के भीतर रहता है और शरीर का स्वामी है, इसलिए 'शरीरी' कहलाता है । वह 'नित्य' है, अर्थात् सदा एक-सा रहता है । न जाने कितने शरीर मर चुके और कितने जन्म ले चुके, पर आत्मा जैसा का तैसा रहता है; वह एकरस है, इसलिए 'नित्य' है । पर उसकी नित्यता हिमालय की नित्यता से भिन्न है । हिमालय भी नित्य प्रतीत होता है, पर वह 'अनाशी', नाशरहित नहीं है । उसमें सतत नाश की क्रिया चल रही है । एक दिन हिमालय नहीं था, वह हुआ और तब से उसमें क्षरण हो रहा है । आत्मा की नित्यता इस प्रकार की नहीं । वह ऐसा नित्य है, जिसमें नाश की कोई क्रिया नहीं होती । अतः वह 'अनाशी' है । तो क्या तुमने इस सत् को, इस आत्मा

को पूरी तरह से जान लिया ? नहीं भाई, उसको नहीं जाना, क्योंकि उसे जाना नहीं जा सकता। वह अप्रमेय है, उसे मापा नहीं जा सकता। जिसको किसी प्रमाण द्वारा, बुद्धि की किसी वृत्ति द्वारा पकड़ा न जा सके, उसे अप्रमेय कहते हैं।

प्रमाण चार प्रकार के होते हैं--प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। इन्द्रियों से जो संस्पर्शज ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' कहते हैं। इन्द्रियाँ इस प्रकार से आत्मा को नहीं जान पातीं, क्योंकि आत्मा अव्यक्त है; वह एक ऐसी अवस्था है, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'--जहाँ से वाणी मन के साथ आत्मा को बिना पाये लौट आती है। उपनिषद् कहते हैं कि 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः'-- वहाँ, उस आत्मा के समीप, न आँखें जा पाती हैं, न वाणी, न मन। इसका कारण यह है कि इन इन्द्रियों का विचरण-क्षेत्र है द्वैतराज्य और आत्मा का साम्राज्य अद्वैत का है। वहाँ इन्द्रियों की पहुँच नहीं। इसलिए आत्मा प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय नहीं।

यहाँ पर एक शंका उठ सकती है। यह कहा गया कि आत्मा मन का विषय नहीं। पर उपनिषद् तो यह भी कहता है कि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'-- अर्थात् आत्मा मन से ही देखा जाता है। यह विरोधी बात कैसे ? यदि उपनिषद् की इस बात को सत्य मानें, तो आत्मा प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय हो गया। इसके उत्तर में

कहा जाता है कि यहाँ पर मन सामान्य अर्थ में नहीं लिया गया है। वह मन जो साधना द्वारा पूरी तरह शुद्ध हो चुका, अपने स्वभाव को त्यागकर, माण्डूक्य उपनिषद् के शब्दों में, 'अमन' हो जाता है। यह 'अमनी मन' ही आत्मा की अनुभूति कराता है। मन को अमन बनाने की साधना 'ध्यानयोग' कहलाती है, जिसके सम्बन्ध में हमने पिछले प्रवचन में कुछ विचार किया है। अतएव इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' हमें आत्मा का ज्ञान नहीं दे सकता।

'अनुमान-प्रमाण' का अर्थ है अनुमान के द्वारा वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना। जैसे हमने धुआँ देखा। हमें मालूम है कि आग के साथ धुआँ हरदम रहता है, इसलिए हमने धुएँ को देखकर अनुमान लगाया कि वहाँ आग लगी है। पर इस प्रकार का अनुमान सीमित जगत् में ही चल सकता है। अनन्त और असीम आत्मा के सन्दर्भ में हम अनुमान से काम नहीं ले सकते।

'उपमान-प्रमाण' ज्ञान का वह तरीका है, जहाँ हम उपमा से वस्तु को जानने का प्रयास करते हैं। जैसे, हमने किसी व्यक्ति को कहा नरकेसरी। इसका मतलब यह है कि हम उस व्यक्ति के बल की तुलना केसरी के बल से करते हैं। पर यह प्रमाण भी द्वैत के राज्य में ही चल सकता है। जहाँ आत्मा को छोड़ और कुछ नहीं है, वहाँ उसकी उपमा किससे दें, उसकी तुलना किससे करें? अतएव यह प्रमाण भी हमें आत्मा का ज्ञान नहीं दे सकता।

अब रहा 'आगम-प्रमाण', जिसका अर्थ है शास्त्रों के सहारे किसी को जानना। पर इस आत्मा को आगम-प्रमाण के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि शास्त्र स्वयं कहते हैं--'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'--यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणाशक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त होता है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि यही सत्य हो, तो फिर शास्त्रों की उपयोगिता क्या है? श्री शंकराचार्य इस प्रश्न का उत्तर विवेच्य श्लोक पर अपने भाष्य में देते हैं। वे कहते हैं--'शास्त्रं तु अन्त्यं प्रमाणम्, अतद्धर्माध्यारोपणमात्रनिवर्तकत्वेन प्रमाणत्वम् आत्मनि प्रतिपद्यते, न तु अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन'--शास्त्र, जो कि अन्तिम प्रमाण है, आत्मा में किये हुए अनात्म-पदार्थों के अध्यारोप को दूर करने के कारण आत्मा के विषय में प्रमाणरूप से गृहीत होता है, न कि अज्ञात वस्तु का ज्ञान करवाने के कारण। मतलब यह कि शास्त्र लक्ष्य का निर्देश करता है और उसकी प्राप्ति में जो बाधाएँ आती हैं, उनको दूर करने का उपाय मात्र बताता है।

श्रीरामकृष्ण इस बात को समझाने के लिए चिट्ठी का दृष्टान्त देते थे। गाँव का एक लड़का शहर में नौकरी करता था। दुर्गापूजा की छुट्टियाँ करीब आयीं। गाँव से उसकी माँ ने उसे चिट्ठी लिखी कि घर आते समय अमुक अमुक चीजें लेते आना। छुट्टी पर जाने से एक दिन पूर्व लड़के ने तय किया कि आज माँ की

बतायी चीजें खरीद लूँ। वह चिट्ठी को ढूँढ़ने लगा। मेज पर देखा, दराज में देखा, पुस्तकों की आलमारी में देखा, तकिया के नीचे, बिस्तर के नीचे सब जगह ढूँढ़ डाला। पर चिट्ठी मिली नहीं। वह बड़ा चिन्तित हुआ। उसने एक एक किताब को खोलकर देखना शुरू किया, पर चिट्ठी न मिली। दो-तीन घंटे की परेशानी के बाद उसने अन्त में देखा कि चिट्ठी कचरे को टोकरी में पड़ी है। उसने लपककर उसे उठा लिया। एक बार उसने चिट्ठी को अच्छी तरह पढ़ लिया और फिर से उसे कचरेदान में फेंक दिया। बड़ी परेशानी के बाद चिट्ठी मिली ऐसा सोचकर उसने चिट्ठी को फ्रेम में जड़कर तो नहीं रखा। चिट्ठी पढ़ ली, बस चिट्ठी का काम हो गया। अब वह बाजार जायगा और चिट्ठी में बतायी गयी चीजें खरीदकर लायगा। ठीक इसी प्रकार शास्त्र लक्ष्य का निर्देश मात्र करते हैं। वे बताते हैं कि लक्ष्य को पाने के लिए हमें क्या करना चाहिए। शास्त्रों से यह जान लिया, तो उनका और प्रयोजन नहीं रह जाता। अब तो शास्त्रों के निर्देश के अनुसार चलना, साधना करना यही शेष रह जाता है। इसीलिए कहा गया कि आत्मा को आगम-प्रमाण के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता।

इस विवेचन का सार यही हुआ कि आत्मा चारों प्रमाणों से ज्ञेय न होने के कारण 'अप्रमेय' है। पुनः श्रीरामकृष्ण देव के वचनों का यहाँ पर स्मरण हो आता है। वे कहते थे––'ब्रह्म क्या है यह आज तक कोई मुँह

से बोल न सका। वह व्यक्ति है यह भी नहीं कहा जा सकता। सारी चीजें जूठी हो गयी हैं; 'वेद, पुराण, तंत्र, षड्दर्शन सब के सब जूठे हो गये हैं। ओठों से वे छू गये हैं, मुँह से उनका उच्चारण हुआ है, इसलिए जूठे हो गये हैं। केवल एक वस्तु जूठी नहीं हो पायी है, वह है ब्रह्म! वेद ब्रह्मा के मुँह से निकला है, तंत्र शिव के मुख से आया है, इसीलिए वे जूठे हो गये हैं। पर उस आत्मा को, उस सच्चिदानन्द ब्रह्म को कोई मुँह से नहीं निकाल सका, इसीलिए वह जूठा नहीं हुआ।' नमक का पुतला हाथ में नापने की छड़ी लेकर गहराई नापने समुद्र में उतरा। एक कदम वह गया नहीं कि जल में घुलकर एक हो गया! अब कौन बताये कि समुद्र कितना गहरा है? इसी प्रकार जीव आत्मा को, ब्रह्म को नापने जाता है। आत्मा के समीप वह गया कि उससे तद्रूप हो गया। अब कौन बताये कि आत्मा कैसा है!

यहाँ पर पुन: एक शंका उपस्थित की जा सकती है कि जब आत्मा को 'अप्रमेय' कहा, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा का दर्शन कभी नहीं हो सकता, वह मात्र एक कल्पनीय वस्तु ही बना रहेगा। फिर 'आत्मानं विजानीहि', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:'—'आत्मा को जानो', 'आत्मा को देखना चाहिए', ये जो वाक्य-विन्यास हैं, इनका क्या मतलब हुआ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि यद्यपि आत्मा अप्रमेय है, तथापि उसे देखा जाता है, अनुभव में लाया जाता है। पिछले प्रवचन

में हमने श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रथम अध्याय के तीसरे मंत्र पर श्री शंकराचार्य द्वारा किये गये भाष्य का हवाला दिया था, जहाँ वे कहते हैं––'प्रमाणान्तर-अगोचरे वस्तुनि प्रकारान्तरम् अपश्यन्तः ध्यान-योगानुगमेन परम-मूलकारणं स्वयमेव प्रतिपेदिरे'––जो परममूलकारण आत्मतत्त्व किसी भी प्रमाणों से गोचर नहीं हुआ, उसे उन ऋषियों ने स्वयं एक भिन्न प्रकार से देखा, और वह भिन्न प्रकार था ध्यानयोग का अनुगमन। इस ध्यानयोग पर हमने पिछले प्रवचन में विस्तार से चर्चा की है, अतः उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं।

इसीलिए श्रीभगवान् कहते हैं––अर्जुन! यह शरीरी आत्मा, यह सत्य, यह सर्वत्र व्यापक ब्रह्म अप्रमेय है। पर इसके जो असंख्य शरीर हैं, वें समस्त अन्तवान् हैं, नाशवान् हैं। जो नाशवान् हैं, उनका नाश आज नहीं होगा तो कल होगा, तू नहीं करेगा तो दूसरा करेगा। पर आत्मा का तो किसी काल में नाश नहीं है। फिर तू उनके सम्बन्ध में सोच-सोचकर शोक क्यों कर रहा है? 'तस्मात् भारत युध्यस्व'––इसलिए हे भारत! तू उठ और युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जा।

श्रीभगवान् की यह सीख हममें अद्भुत साहस का संचार करती है। हम मर्त्यशील शरीर नहीं हैं, हम तो अजर-अमर-अविनाशी आत्मतत्त्व हैं। शरीर का चिन्तन दुर्बलता को जन्म देता है, आत्मा का विचार हममें अक्षय शक्ति का संचार करता है। शरीर को तुच्छ

मानने से ही महत् कर्म सम्पादित होते हैं। जो शरीर को तुच्छ मानता है, वही त्याग कर सकता है; वही समाजदेवता, राष्ट्रदेवता या विश्वदेवता की सेवा के लिए अपने जीवन को निछावर कर सकता है। शरीर को सर्वस्व माननेवाले लोग कभी महान् नहीं बने। शरीर ही आसक्ति का और समस्त दुर्बलता का कारण है। शरीर सबसे पहले हमें इन्द्रियों की तुच्छ सीमा में बाँधता है। उस दायरे से किसो प्रकार से निकले, तो परिवार की सीमा हमें बाँध लेती है। उससे आगे किसी प्रकार बढ़े, तो जाति की दुर्भेद्य दीवार अपने शिकंजे में हमें जकड़ लेती है। आज जाति-वर्ण आदि के भेदों ने राष्ट्र की कैसी दुर्दशा कर रखी है! हमारा सारा चिन्तन इन्हीं तग दायरों में बँधा होता है। जब तक हम इस सीमा के ऊपर नहीं उठेंगे, तब तक हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद राष्ट्र ऊपर नहीं उठ सकेगा। अर्जुन शरीर द्वारा निर्धारित सीमा में बँध गया था। इसीलिए श्रीकृष्ण उससे कहते हैं---इस नाशवान् सीमा को तोड़। अपने भीतर के शरीरी को देख। वह कभी नहीं मरता। जब तक तू अपने को शरीर मानेगा, तू शोक का शिकार होगा। शरीरी का चिन्तन कापुरुषता को दूर करेगा और युद्ध के लिए तुझे साहस और मनोबल प्रदान करेगा।

साहस दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का साहस है---तोप के मुँह में दौड़ जाना। दूसरे प्रकार का साहस है---अपने को आत्मा मानकर विश्वास करना।

कहते हैं कि एक बार सिकन्दर-महान् जब भारत आया, तो यहाँ महात्माओं की खोज में लग गया। उसके गुरु सुकरात ने उससे कहा था कि जब तुम भारत जाओ, तो वहाँ से एक तत्त्वज्ञानी महात्मा को अपने साथ सम्मानपूर्वक लेते आना। उससे तुम्हारा और तुम्हारे देश का कल्याण होगा। सिकन्दर-महान् का परिश्रम सफल हुआ। बहुत खोज करने के बाद उसने देखा कि एक वृद्ध साधु नदी के तीर पर एक शिलाखण्ड पर बैठे हुए हैं। वह उनसे बातें करके बड़ा प्रभावित हुआ। उसने उन्हें अपने साथ देश ले जाने की इच्छा प्रकट की। पर साधु ने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा, "मैं इस वन में बड़े आनन्द में हूँ।" सिकन्दर बोला, "मैं समस्त पृथ्वी का सम्राट् हूँ। मैं आपको असीम ऐश्वर्य और उच्च पद-मर्यादा दूँगा।" साधु बोले, "ऐश्वर्य, पद-मर्यादा आदि किसी बात की मेरी इच्छा नहीं।" तब सम्राट् ने साधु को डर दिखाते हुए कहा, "यदि आप मेरे साथ नहीं चलेंगे, तो मैं इस तलवार से आपको काट डालूँगा।" इस पर साधु बहुत हँसे और बोले, "राजन्! आज तुमने अपने जीवन में सबसे मूर्खतापूर्ण बात कही। तुम्हारी क्या हस्ती कि मुझे मारो? सूर्य मुझे सुखा नहीं सकता, आग मुझे जला नहीं सकती, कोई शस्त्र मुझे काट नहीं सकता, क्योंकि मैं जन्मरहित, अविनाशी, नित्य विद्यमान, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आत्मा हूँ।" यह आध्यात्मिक साहस है।

स्वामी विवेकानन्द इसी आध्यात्मिक साहस को

अपने देशवासियों में देखना चाहते थे। वे कहते हैं--"हे नर-नारियो ! उठो, आत्मा के सम्बन्ध में जाग्रत् होओ, सत्य में विश्वास करने का साहस करो, सत्य के अभ्यास का साहस करो। संसार को कोई सौ साहसी नर-नारियों की आवश्यकता है। अपने में वह साहस लाओ, जो सत्य को जान सके, जो जीवन में निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से न डरे, प्रत्युत उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो उसका विनाश कर सके। तब तुम मुक्त हो जाओगे।" यह ज्ञान शोक को दूर करेगा। तभी तो कवि कहता है--

> क्लिन्नाम रोदिषि सखे त्वयि सर्वशक्तिः
> आमन्त्रयस्व भगवन् भगदं स्वरूपम्।
> त्रैलोक्यमेतदखिलं तव पादमूले
> आत्मैव हि प्रभवते न जड़ः कदाचित्॥

--हे सखे ! तुम क्यों रो रहे हो ? सब शक्ति तो तुम्हीं में है। हे भगवन् ! अपना ऐश्वर्यमय स्वरूप विकसित करो। ये तीनों लोक तुम्हारे पैरों के नीचे हैं। जड़ की कोई शक्ति नहीं, प्रभाव तो आत्मा का ही होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को इसी बल का पाठ पढ़ाते हैं। वे कहते हैं--अर्जुन ! आत्मा के स्वरूप को इस तरह जानकर अब अपनी कापुरुषता का त्याग करो। शरीर नष्ट होते हैं, पर शरीरी आत्मा का किसी काल में विनाश नहीं होता। इस सत्य की धारणा करो और 'युध्यस्व'--युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) समता का अभाव

एक बार युद्ध से सम्बन्धित कोई विशेष समाचार लेकर एक सैनिक वायुवेग से सम्राट् नैपोलियन के पास आया। उस सैनिक का घोड़ा इतना थक गया था कि उसने वहीं दम तोड़ दिया। नैपोलियन ने समाचार पढ़ा और उसका जवाब देते हुए उस घुड़सवार से कहा, "सैनिक ! तुम्हारा घोड़ा वीरगति को प्राप्त हो चुका है, काम बहुत जरूरी है, अतः तुम मेरे इस विशेष घोड़े पर सवार होकर युद्धभूमि में जाओ और सेनापति को हमारा यह पत्र दो।"

सैनिक को विश्वास न हुआ। भला नैपोलियन-जैसा ऊँचा शासक उसे अपने सर्वश्रेष्ठ घोड़े पर बैठने का आदेश दे ! वह बोला, "हुजूर ! मुझ-जैसे निम्न श्रेणी के एक तुच्छ सैनिक का आपके घोड़े पर बैठना उचित नहीं। कहाँ आप आकाश के सूर्य की तरह ऊँचे और कहाँ हम धरती के कंकड़-पत्थर ! मैं पैदल ही जल्दी से जल्दी समाचार देने का प्रयास करूँगा।"

"नहीं, नहीं। पैदल क्यों जाओगे ? दुनिया में ऐसी कोई भी उत्कृष्ट स्थिति या वस्तु नहीं, जिस पर तुम्हारा अधिकार न हो। एक छोटे से छोटा सैनिक भी कोई भी ऊँची वस्तु प्राप्त कर सकता है। बिना विलम्ब किये मेरे इस घोड़े पर सवार होकर यह आवश्यक पत्र सेनानायक के पास पहुँचा दो।"

सैनिक आश्चर्य में डूबा हुआ भयभीत नेत्रों से नैपोलियन के उस सर्वश्रेष्ठ घोड़े को निहारने लगा। उसे साहस न हुआ कि वह उस घोड़े पर सवार हो। वह पुनः बोला "हुजूर ! ऐसे सर्वोत्तम घोड़े पर तो आपको ही बैठना शोभा देता है। मुझ सरीखे मामूली सैनिक के भाग्य में यह लिखा नहीं है, अतः आप आग्रह न करें।"

इस पर नैपोलियन ने उत्तर दिया, "इस धरती पर कोई भी ऐसी ऊँची, उत्तम या गौरवपूर्ण स्थिति अथवा असाधारण वस्तु नहीं, जिसका कोई साधारण व्यक्ति उपयोग न कर सके अथवा जिसे अपने पौरुष से प्राप्त न कर सके !"

और सैनिक उस अश्व पर आरूढ़ होकर वहाँ से युद्धस्थल की ओर रवाना हो गया।

(२) चरित्र की ज्योति

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खूँखार पंजे से अपने राष्ट्र को मुक्त करने के बाद अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन ने जब अपनी सेना को भंग करने की घोषणा की, तो उनके सेनापतियों ने बड़े भय और आश्चर्य से कहा, "श्रीमान् ! सेना तो राष्ट्र का मेरुदण्ड होती है। सेनारहित राष्ट्र की तो कभी कल्पना ही नहीं की जा सकती। सेना के बिना राष्ट्र का अस्तित्व भला कब तक स्थिर रह सकता है ?"

वाशिंगटन ने अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण स्वर में उत्तर

दिया, "आप भूलते हैं, मेरे मित्र ! किसी भी राष्ट्र का मेरुदण्ड उसकी सेना नहीं, उसकी सामूहिक शक्ति और समृद्धि तथा वहाँ की जनता का चरित्रबल होता है। हमें ऐसी प्रजा का निर्माण करना है, जो राष्ट्र-रक्षा के अपने उत्तरदायित्व को, राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को समझे और उस उत्तरदायित्व को, उस कर्तव्य को पूरा करने एवं निभाने की लगन, शक्ति और साहस उसमें हो। हमारी अभिलाषा है कि हमारे राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक तन-मन से ऐसा विकसित हो कि जब भी राष्ट्र पर कोई संकट आये और राष्ट्र-रक्षा का प्रश्न उठे, तो वह मन में राष्ट्र के लिए अपने रक्त की अन्तिम बूँद तक बहा देने का दृढ़ संकल्प कर सैनिक वेश में आप-से-आप राष्ट्र-पताका के नीचे पंक्तिबद्ध आ खड़ा हो। सेनापतियो ! जब राष्ट्र की रीढ़ में बल होता है और उसके मानस में चरित्र की ज्योति जगमगाती है, तो बात की बात में अजेय सेना का निर्माण हो जाता है।"

(३) सच्चा देशभक्त

सन् १७६१ में अहमदशाह दुर्रानी ने अफगानी सेना लेकर दिल्ली पर आक्रमण किया। तब शत्रु से लोहा लेने के लिए मराठा सेना आगे बढ़ी, जिसका प्रधान सेनापति था—सदाशिव भाऊ पेशवा। दोनों सेनाएँ पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में आपने-सामने आ डटीं। दुर्रानी रुक गया और अनुकूल अवसर की

प्रतीक्षा करने लगा।

एक दिन दुर्रानी को एक ऊँचे टीले से यह दिखायी दिया कि भारतीय सेना के पड़ाव के चारों ओर धुआँ छाया हुआ है। उसने इस बाबत जब अपने साथियों से प्रश्न किया, तो एक ने जवाब दिया, "हिन्दू लोगों का एक साथ भोजन नहीं बनता, क्योंकि वे दूसरों के हाथ का बनाया खाना नहीं खाते, इसीलिए सब सिपाही कपड़े उतारकर अपना अपना खाना पका रहे हैं।" दुर्रानी बोला, "बस, यही अच्छा मौका है, धावा बोल दो।"

सेनापति की आज्ञा मिलते ही अफगानी सेना मराठों पर टूट पड़ी, जिससे चारों ओर खलबली मच गयी। यद्यपि मराठों ने मुकाबला किया, किन्तु अन्त में वे पराजित हुए। अफगानों ने हजारों भारतीय सैनिकों को बन्दी बनाकर उन्हें निर्दयतापूर्वक मारना आरम्भ किया। उन बन्दियों में इब्राहिम खाँ गारडी नामक एक मुसलमान सरदार भी था। उसे भी पकड़कर दुर्रानी के पास लाया गया। दुर्रानी उससे बोला, "तुम तो बड़े ही सूरमा मालूम पड़ते हो। यदि हमारी सेना में भर्ती होकर हिन्दुस्तान को लूटने में सहायता करोगे, तो मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा।"

इस पर स्वाभिमानी एवं देशभक्त गारडी ने जवाब दिया, "मैं मुसलमान अवश्य हूँ, किन्तु हिन्दुस्तान के अन्न-जल से पला हूँ। मैं अपनी मातृभूमि और वहाँ

के निवासियों के साथ कदापि विश्वासघात नहीं करूँगा। भले ही मुझे हिन्दुस्तान की रक्षा के लिए हजार बार क्यों न मरना पड़े, मैं उसके लिए तैयार हूँ। आप यह निश्चित जान लें कि हिन्दुस्तान मुझे अपने प्राणों से भी प्यारा है।"

और यह स्पष्टोक्ति सुन निर्दयी अहमदशाह ने गारडी के शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डाले, और वह देशभक्त हँसते हँसते अपने देश के लिए शहीद हो गया।

(४) छल और बल का प्रभाव

सोमनाथ को लूटकर महमूद गजनवी जब लौट रहा था, तो मार्ग में उसे राजपूतों की एक छोटी टुकड़ी मिली, जो महमूद की विशाल सेना को ललकारती तीर की तरह सामने चली आ रही थी। महमूद गजनवी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसकी एक लाख बलाढ्य सेना का रास्ता ये गिनती के सौ-सवा सौ घुड़सवार कैसे रोक सकेंगे। उसने अपने मंत्री से कहा, "जाओ, इन बेवकूफों को समझाओ कि वे क्यों अपनी जिन्दगी को जान-बूझकर आग में झोंक रहे हैं? भला भारत-विजेता महमूद के सामने कोई ठहर सका है?"

सामने चले आ रहे घुड़सवारों में से एक नब्बे बरस के बूढ़े ने जब ये दम्भोक्तिपूर्ण शब्द सुने, तो वह आगे आकर बोला, "तुम्हारे बादशाह से कह दो कि हम राजपूत मृत्यु से बिलकुल नहीं घबराते। तुम्हारा बादशाह हमारी दृष्टि में चोर, लुटेरा, डाकू और

दुराचारी के अलावा और कुछ नहीं ! उससे कहो कि वह अपने को भारत-विजेता कहकर अपनी जबान मैली न करे । उससे कहो कि इस भूमि पर जब तक एक भी राजपूत जीवित है, तब तक भारत-विजय करने का स्वप्न देखनेवालों को अपनी मौत की घड़ियाँ ही गिननी चाहिए ।"

मंत्री ने सारा का सारा वृत्तान्त महमूद से कह सुनाया । यह सुनते ही उसकी त्यौरियाँ चढ़ गयीं और उसनें फौज को हुक्म दिया कि उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाय । राजपूतों ने कुछ देर तक तो ऐसा कौशल दिखाया कि महमूद की सेना के दाँत खट्टे हो गये, किन्तु वे इतने विशाल सैन्यबल के सामने भला कब तक टिक सकते थे ? आखिर वे सारे के सारे वीरगति को प्राप्त हो गये ।

राजपूतों के शौर्य की महमूद पर ऐसी छाप पड़ी कि वह मंत्री से बोला, "आप ठीक कहते थे । यह देश सचमुच बड़ा विचित्र है । यहाँ बल से कुछ प्राप्त नहीं किया जा सकता । इन्हें छल से ही परास्त किया जा सकता है !"

✤

धर्मप्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० – स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। विभिन्न अवसरों पर दिये गये उनके कुछ आध्यात्मिक उपदेश कतिपय संन्यासियों एवं भक्तों द्वारा लिपिबद्ध कर लिए गये थे। उन्हीं उपदेशों का कुछ अंश मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया। उसी का धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है। —सं०)

स्थान–बेलुड़ मठ

२५ अप्रैल, १९१३

प्रश्न– मन तो किसी भी तरह शान्त नहीं होता।

उत्तर– प्रत्येक दिन थोड़ा-बहुत जप-ध्यान करना। किसी भी दिन नागा मत करना। मन बालक के समान चंचल होता है, लगातार इधर-उधर भागता रहता है। उसको बार बार खींचकर इष्ट के ध्यान में निमग्न करना। इसी तरह दो-तीन वर्ष करने पर देखोगे कि हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द आने लगा है, मन भी शान्त हो रहा है। पहले-पहल जपध्यान नीरस ही लगता है, परन्तु औषधि-सेवन के समान जबरदस्ती मन को इष्ट-चिन्तन में निमग्न रखना चाहिए। तब कहीं धीरे धीरे आनन्द का अनुभव होगा। परीक्षा में सफल होने के लिए लोग कितनी मेहनत करते हैं, पर भगवान्-लाभ उसकी तुलना में कहीं अधिक सहज है। प्रशान्त अन्तःकरण पूर्वक सरल भाव से भगवान् को पुकारना चाहिए।

प्रश्न– यह बड़ी आशाजनक बात है कि परीक्षा में जब सफल हो गया, तब प्रयत्न करने पर भगवान्-लाभ भी क्यों नहीं कर सकूँगा। कभी कभी घोर निराशा आ जाती है। ऐसा लगता है कि इतना जप करने पर भी जब कुछ अनुभव नहीं हो रहा है, तो यह सब फिजूल है।

उत्तर– नहीं नहीं, निराश होने कि कोई बात नहीं। कर्म का फल तो अनिवार्य रूप से मिलता है। जबरदस्ती करो या खूब भक्ति के साथ करो, नाम करने से उसका फल होगा ही। कुछ काल नियमित रूप से अभ्यास करो। ध्यान से केवल मन में ही शान्ति होती है ऐसी बात नहीं, उससे शारीरिक लाभ भी होता है, रोग-राई घट जाती है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी ध्यान आदि करना चाहिए।

पहले-पहल ध्यान करना मानो मन के साथ युद्ध करने के समान है। चंचल मन को धीरे धीरे स्थिर कर इष्ट के पादपद्मों में लगाना चाहिए। इस अभ्यास से कुछ समय बाद सिर थोड़ा गरम हो जाता है। इसलिए पहले-पहल अधिक ध्यान-धारणा करके brain (मस्तिष्क) से ज्यादा परिश्रम लेना ठीक नहीं, वह सब बहुत ही धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए। कुछ दिन इस तरह नियमित अभ्यास करते रहने से जब ठीक ठीक ध्यान होने लगेगा, तब दो-चार घण्टे लगातार एक आसन में बैठकर ध्यान-धारणा करने से भी कोई कष्ट नहीं होगा; वरन् गाढ़ी नींद के बाद शरीर और मन जैसे refershed (ताजा) हो

जाते हैं, उसी प्रकार का अनुभव होगा, और हृदय में एक आनन्द का प्रवाह बहता रहेगा।

साधना की प्रथम अवस्था में खाने-पीने के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। शरीर के साथ मन का बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। खान-पान के दोष के कारण स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और फलस्वरूप ध्यान-धारणा का अभ्यास भी सम्भव नहीं हो पाता। तभी तो खान-पान के सम्बन्ध में इतने आचार-विचार हैं। भोजन की वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए, जो सहज ही हजम हो जायँ एवं पुष्टिकर हों, उत्तेजक न हों। और ज्यादा खाना भी ठीक नहीं, उससे तमोगुण बढ़ता है। भोजन आधा पेट करना, पानी एक चतुर्थांश पीना, पेट का बाकी एक चौथाई भाग वायु के आने-जाने के लिए खाली रखना।

ध्यान करना क्या सहज बात है ? किसी दिन थोड़ा अधिक खा लेने से मन एकाग्र नहीं हो पाता। काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि रिपुओं को दबाकर रखना पड़ता है, तब कहीं ध्यान करना सम्भव होता है। इन रिपुओं में से एक के भी सिर उठाने पर ध्यान नहीं हो पायेगा। खूब तपस्या करना चाहिए। दो पैसे के कंडे खरीद उसे जलाकर आग के बीच में बैठना बहुत सरल है, पर काम, क्रोधादि रिपुओं को दमन करके रखना, उन्हें सिर ऊपर न उठाने देना ही असल तपस्या है। नपुंसक भला क्या करेगा ? काम, क्रोध आदि रिपुओं का

दमन करना ही श्रेष्ठ तपस्या है।

ध्यान किये बिना मन स्थिर नहीं होता और मन स्थिर न होने से ध्यान नहीं होता। मन स्थिर होने पर ध्यान करेंगे, ऐसा सोचने से ध्यान करना फिर कभी होगा ही नहीं। दोनों एक साथ करने होंगे। मन की वासनाएँ असल में कुछ भी नहीं। ध्यान के समय ऐसा सोचना कि 'सभी मिथ्या है।' इस तरह चिन्तन करते करते क्रमशः मन में सद्भावनाओं के impression (संस्कार) पड़ेंगे। असद्भावनाओं को जैसे जैसे मन से निकालोगे, वैसे वैसे उसमें सद्भावनाएँ आती जायेंगी। ध्यान करते करते कभी कभी ज्योति दर्शन होता है, और कभी कभी प्रणव-ध्वनि या घण्टा-ध्वनि अथवा अन्य कोई दूर का शब्द सुनायी पड़ता है। परन्तु वह सब कुछ नहीं है। और भी आगे बढ़ना होगा। फिर भी, ये सब लक्षण अच्छे हैं। ऐसा होने पर समझना, ठीक ठीक रास्ते पर जा रहा हूँ।

एक व्यक्ति बड़ा निडर था। मृत्यु के पन्द्रह दिन पूर्व कहने लगा, "चलो चलो, मुझे गंगा ले चलो। तुम लोग शायद समझ रहे हो कि मैं यहीं मरूँगा ?" गंगा पर जाकर थोड़ा हँसते हुए कहने लगा, "माँ तुम थीं इसीलिए मैंने इतना पाप किया है। जानता हूँ, तुम सब धो-पोंछकर साफ कर दोगी।" भक्ति, विश्वास इनमें से एक के भी रहने से भगवान् की प्राप्ति होती है।

स्वामी विवेकानन्द कहते थे, "कुल-कुण्डलिनी का थोड़ा सा जगना बड़ी विपत्ति का कारण हुआ करता

है। वह यदि ऊपर न उठे, तो काम, क्रोधादि निम्न प्रवृत्तियाँ बहुत ही प्रबल हो जाती हैं। इसीलिए वैष्णवों के मधुरभाव और सखीभाव की साधनाएँ उच्च अधिकारियों को छोड़ अन्य सबके लिए बहुत ही dangerous (खतरनाक) हैं। प्रारम्भिक अवस्था में रासलीला विषयक पुस्तकें भी नहीं पढ़नी चाहिए।"

प्रश्न--महाराज, दीक्षा लेने की आवश्यकता क्या है? स्वयं अपने बल पर साधना करने से ही तो हो जायगा ?

उत्तर--दीक्षा लिये बिना एकाग्रता नहीं होती। आज शायद तुम्हें कालीरूप अच्छा लगे, कल हरिरूप अच्छा लगे और परसों निराकार अच्छा लगने लगे, परिणामत: किसी में भी एकाग्रता नहीं होगी। मन स्थिर न हो, तो भगवान्-लाभ तो दूर की बात है, मामूली सांसारिक कर्म में भी गड़बड़ी होने लगती है। भगवान्-लाभ करने के लिए गुरु की नितान्त आवश्यकता है। गुरु शिष्य के मन के भाव को देखकर मंत्र और इष्ट ठीक कर देते हैं। गुरु के वचनों में विश्वास करके यदि निष्ठासहित साधन-भजन न करो, तो किसी भी हालत में कुछ नहीं होगा। धर्म का रास्ता अति दुर्गम है। सिद्ध गुरु का आश्रय मिले बिना जितना भी बुद्धिमान क्यों न हो, जितना भी प्रयत्न क्यों न करे, ठोकर खाकर गिरना पड़ेगा ही। चोरी करने के लिए भी एक गुरु की आवश्यकता होती है, तब फिर इतनी श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या

का लाभ करने के लिए गुरु की आवश्यकता भला क्यों नहीं होगी ?

यदि भगवान्-लाभ करना चाहते हो, तो धैर्य धारण कर साधना करते जाओ। समय आने पर सब होगा। वे ही जानते हैं कि वे कब दर्शन दें। दौड़-धूप करने से कुछ फल नहीं होता। समय हुए बिना दौड़-धूप से कुछ फल नहीं होता। ठाकुर कहते थे, "समय हुए बिना पक्षी अंडे नहीं फोड़ता।" ऐसे अवसर पर मन की अवस्था बहुत ही कष्टदायक होती है। एक बार आशा, फिर निराशा, कभी हँसना, कभी रोना--वस्तुलाभ न होते तक दिन इसी तरह कट जाते हैं। पर उत्तम गुरु पा जाने से वे मन को इस अवस्था से भी झट से ऊपर उठा दे सकते हैं। किन्तु यदि बिना ठीक समय के आये इस प्रकार मन को ऊपर उठा दिया जाय, तो उसका वेग सँभाला नहीं जा सकता, उल्टे शरीर और मन का अनिष्ट होता है। ऐसी अवस्था में बड़ी सावधानी से रहना पड़ता है। सद्गुरु के आश्रय में रहकर उनके उपदेशानुसार सात्त्विक आहार, पूर्ण ब्रह्मचर्यपालन इत्यादि नियमों का सुचारु रूप से पालन करना पड़ता है। यदि ऐसा न किया, तो सिर का गरम होना, सिर का घूमना इत्यादि अनेक रोगों से कष्ट पाना पड़ता है।

स्थान—बेलुड़ मठ

३० अप्रैल, १९१३

प्रश्न--महाराज, मुझे जप-ध्यान एक साथ करने का

आदेश मिला है। पर ध्यान तो बिल्कुल नहीं होता, इसलिए मन बीच बीच में बहुत खराब हो जाता है।

महाराज—मन में ऐसा depression (निराशा) आना स्वाभाविक है। दक्षिणेश्वर में मुझे एक बार ऐसा हुआ था। मेरी उम्र तब कम थी, और ठाकुर तब करीब पचास वर्ष के थे। इसलिए मन की सब बातें उनसे कहने में लज्जा होती थी। एक दिन कालीमन्दिर में ध्यान कर रहा था। ध्यान जम नहीं रहा था——मन में बहुत ही खराब लगने लगा; सोचा, इतने दिन से यहाँ हूँ, कुछ भी तो नहीं हुआ, फिर क्या लेकर रहा जाय ? जाय सब चूल्हे में उन्हें भी कुछ नहीं बतलाता। यदि इसी तरह दो-तीन दिन और चला, तो घर वापस चला जाऊँगा। वहाँ दस-पाँच चीजें लेकर मन तो लगा रहेगा। ऐसा सोचकर कालीमन्दिर से बाहर आ रहा था कि ठाकुर ने मुझे देख लिया। वे उस समय बरामदे में टहलते रहते थे। मुझे देखकर कमरे में चले गये। तब हम लोगों का नियम था, कालीमन्दिर से आने के बाद उन्हें प्रणाम करके थोड़ा प्रसाद लेना। जाकर उन्हें प्रणाम किया। वे बोले, "देख, तू जब कालीमन्दिर से आ रहा था, तब देखा, तेरा मन मानो परदे से ढक गया है।" मैंने सोचा, हाय रे, वे तो सब जान गये हैं। मैं बोला, "मेरा मन इतना खराब हो गया है यह तो आप जान ही गये हैं।" तब उन्होंने मेरी जीभ पर कुछ लिख दिया। तुरन्त ही पहले का सारा कष्ट भूल मैं अपूर्व

आनन्द में विभोर हो गया। जब भी उनके पास रहता था, हमेशा आनन्द से भरपूर रहता था। इसीलिए तो सिद्ध एवं शक्तिशाली गुरु की आवश्यकता होती है।

यह आवश्यक है कि दीक्षा देने-लेने के पहले गुरु-शिष्य एक दूसरे को परीक्षा करके देख लें, नहीं तो धोखा खाना पड़ता है। यह तो एक-दो दिन का सम्बन्ध नहीं है। मेरे पास कोई दीक्षा लेने आता है, तो पहले उसे भगा देता हूँ। यदि देखता हूँ वह छोड़ नहीं रहा है, तब कहता हूँ, यह 'नाम' एक वर्ष तक प्रति दिन कम से कम एक हजार बार जप करना; उसके बाद मिलना। बहुत से लोग इसी से भाग जाते हैं।

× × × ×

एक व्यक्ति को दीक्षा देने के लिए कितनी मेहनत करनी पड़ती है। उसका कौन इष्टदेवता है, पहले यही समझना मुश्किल होता है। एक व्यक्ति को दीक्षा देने के पहले सोचा, देखूँ यदि ध्यान में उसका इष्ट मिले, तभी उसे दीक्षा दूँगा, नहीं तो नहीं। लगभग एक घण्टा ध्यान करने के बाद एक मूर्ति के दर्शन हुए; बाद में उस व्यक्ति से पूछने पर मालूम हुआ कि वही मूर्ति उसे सबसे अच्छी लगती है। आजकल बहुत से लोग दीक्षा लेकर कुछ नहीं करते; जिस-तिसको दीक्षा देना ठीक नहीं।

बहुत धैर्य चाहिए। धैर्य धारण कर साधना करते जाओ, जब तक तत्त्वलाभ न हो। खूब मेहनत

करो। पहले-पहल साधना बेगारी करने के समान नीरस मालूम होती है—जैसे 'अ' 'आ' सीखना। पर धैर्यपूर्वक लगे रहने पर धीरे धीरे शान्ति मिलती है। हम लोगों से दीक्षा लेने के बाद जो सिर्फ complain (शिकायत) करते हैं और कहते हैं, 'महाराज, कुछ तो नहीं हो रहा है', उनकी बात में दो-तीन वर्ष तक बिलकुल नहीं सुनता। उसके बाद वे लोग खुद ही आकर कहते हैं, 'हाँ महाराज, अब कुछ कुछ हो रहा है।' यह जल्दबाजी की चीज नहीं है। दो-तीन वर्ष तक खूब साधन-भजन करो, फिर आनन्द पाओगे। तुम्हारी बात सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। आजकल अनेक लोग निठल्ले बनकर काम करा लेना चाहते हैं।

स्थान—बेलुड़ मठ

१० मई, १९१३

प्रश्न—महाराज, भगवान् में मन कैसे लगता है?

उत्तर—साधुसंग करते करते भगवान् में मन लगेगा। साधुओं के पास सिर्फ आने-जाने से नहीं होता। उनका जीवन देखकर, उनके उपदेश सुनकर तदनुसार जीवन गढ़ना होगा। ब्रह्मचर्य एवं साधन-भजन के बिना साधुओं के भाव एवं उपदेश आदि की कुछ भी धारणा नहीं होती; शास्त्रादि का पाठ करके भी उसका ठीक ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' आदि पुस्तकें खूब पढ़ना एवं धारणा करने की कोशिश करना। जितना पढ़ोगे, उतना ही उसमें नया नया अर्थ

पाओगे। साधक भगवान् के बारे में सुनकर एक तरह से समझता है, साधना करके दूसरी तरह से समझता है और सिद्ध होने पर भिन्न ही प्रकार से समझता है।

उनको पाने के लिए, उनको देखने के लिए खूब साधन-भजन चाहिए। सरल और व्याकुल हृदय से उन्हें पुकारना होगा, उनके लिए सब कुछ त्याग करना होगा। कामिनी-कांचन और मान-यश की थोड़ी भी आकांक्षा रहने से नहीं बनेगा। नाग महाशय कहते थे, "लंगर डालकर पतवार मारने से कैसे होगा ?" उनकी और भी एक बात थी--"प्रतिष्ठा पाना सहज है, किन्तु छोड़ना कठिन है। जो त्याग कर सकता है, वही असल साधु है।"

ऐसा दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर यदि भगवत्प्राप्ति की चेष्टा न करो, तो जन्म वृथा है। शंकराचार्य ने कहा है,--

"मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुषसंश्रयः।"

--महापुरुषसंश्रय बड़े भाग्यवान को ही प्राप्त होता है।

प्रश्न--महाराज, बहुतों का ऐसा विश्वास रहता है कि साधु लोगों के पास जाना ही यथेष्ट है, कुछ और सुनने या करने की आवश्यकता नहीं होती।

उत्तर--वैसी बातें सुनते क्यों हो ? साधुओं के पास सिर्फ जाने से नहीं होता। सरल हृदय से उनसे प्रश्न कर मन के सन्देह दूर करने होंगे, उनके कार्य-कलापों को खूब बारीकी से देखना होगा और उनके उपदेश सुनकर तदनुरूप जीवन को गढ़ना होगा। स्वयं कुछ न कर सिर्फ साधु के पास जाने से होगा, यह सब टालने

की बातें हैं। फिर भी साधुसंग की विशेष आवश्यकता है। उनको देखने से, उनके उपदेश सुनने से मन में धर्मभाव, सद्भाव जाग उठते हैं और संशय दूर हो जाते हैं। उनका पवित्र जीवन, भावमय जीवन देखने से मन जितना impressed (प्रभावित) होता है, सौ पुस्तकें पढ़ने से भी उतना नहीं होता। अधर सेन अक्सर एक स्कूल सब-इन्सपेक्टर को साथ लेकर ठाकुर के पास आते थे। उनके उस साथी को प्रायः भावावेश हुआ करता था। एक दिन जब वे ठाकुर के पास आये, तो कुछ समय बाद ही ठाकुर समाधिस्थ हो गये। उनके अधरों पर एक दिव्य मुस्कान बिखर उठी। प्रतीत होता था, मानो आनन्द उनमें समा नहीं पा रहा है। यह देख अधर बाबू ने अपने उस साथी से कहा था, "तुम लोगों का भावावेश देखकर मुझमें भाव के प्रति एक प्रकार की अरुचि उत्पन्न हो गयी थी। तुम्हें जब भावावेश होता है, तो देखकर ऐसा लगता है जैसे तुम्हारे भीतर बहुत पीड़ा हो रही है। भगवान् के नाम में क्या कभी पीड़ा होती है? ठाकुर के भाव को देखकर लगता है मानो इनके भीतर का आनन्द छलका पड़ रहा है। इससे मेरी आँखें खुल गयीं। इनका भाव भी यदि तुम लोगों के समान देखता, तो फिर से यहाँ आना नहीं होता।" ठाकुर के पास आये बिना, उनका यह 'भाव' देखे बिना अधर बाबू के मन का संशय कभी दूर नहीं होता। यह हुआ साधुसंग का फल। किन्तु जानते हो, तत्त्वलाभ करने के लिए खूब

मेहनत करनी होगी, खूब साधन भजन करना होगा। समझे?

प्रश्न--महाराज, संसार में किस प्रकार रहना होगा? निष्काम भाव से ही रहना चाहिए न?

उत्तर--देखो, निष्काम-फिष्काम वह सब बहुत ऊँची बात है। संसार में रहकर वह सब नहीं होता। लोग चाहे जितना सोचें कि मैं निष्काम भाव से काम कर रहा हूँ, पर असल में थोड़ी गहराई से देखने पर मालूम होता है कि किसी न किसी कामना से प्रेरित हो काम कर रहा हूँ। इसी से दिखायी देता है कि निष्काम कर्म नहीं हो पाता। फिर भी संसार का कर्म करते करते उनके निकट प्राथना करनी चाहिए--'प्रभो, मेरे कर्म कम कर दो।'

मन सुमिरन कर

स्वामी श्रुतिसारानन्द

मन सुमिरन कर जग-जन-जीवन रामकृष्ण अविराम
सकल मनोरथ सफल होत छिन सदा सुपूरन काम।
धर्म स्थापना हित कलि प्रकटित धन्य धरा धन धाम
ये ही राम पूर्ण पुरुषोत्तम मनमोहन घनश्याम।
मानव-सेवा ईश-अर्चना मधुर मन्त्र निष्काम
मत जितने पथ उतने ही जग यही तन्त्र अभिराम।
धर्म-मर्म अनुभूतिगम्य है जीवन का विश्राम
जीवन का बस लक्ष्य ईशपद पाना ललित ललाम।
पुरुष परात्पर परमेश्वर प्रभु करुणामय श्री धाम
गति भर्ता 'श्रुतिसार'-शरण प्रभु बारम्बार प्रणाम॥

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

ऐसे अवसर विरले ही थे, जब स्वामीजी उत्तेजित होते हों। उनके परिचितों का कहना था कि विरोधी कितना ही आक्रामक क्यों न रहा हो, वे अपनी शान्ति और गाम्भीर्य नहीं खोते थे। केवल प्रारम्भिक काल में जो बात उनके क्रोध को जगा देती थी, वह थी भारत में अंग्रेजों की सत्ता तथा उनका लोगों पर अत्याचार। इसे वे किसी प्रकार बर्दाश्त नहीं कर पाते थे। पर चर्चा के लिए उनके पास विषयों की कमी न थी। विज्ञान, कला, इतिहास, राजनीति आदि पर उनका अप्रतिम अधिकार था। इन विषयों पर वे न केवल अपना बौद्धिक ज्ञान प्रकट करते, वरन् अपनी पैनी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि द्वारा उनका सूक्ष्म विवेचन भी प्रस्तुत करते। पर उनकी हृत्तन्त्री को झंकृत करने वाला सबसे प्रिय विषय था– भारत। उसके उत्थान के लिए धन एकत्रित करने की उनकी आकांक्षा अभी तक मिटी नहीं थी। इसका आभास उस वार्ता में पाया जाता है, जो नगर के बड़े उद्योगपति श्री फ्रीअर द्वारा उनके सम्मान में दिये भोज के बीच हुई थी। इसका विस्तृत विवरण फ्रेड. एच. सीमोर द्वारा 'डिट्रायट ट्रिब्यून' के १८ फरवरी के अंक में प्रकाशित किया गया, जिसका सारांश निम्न है––

डिट्रायट के सुसंस्कृत समाज में ऐसी सनसनी बिरली ही फैलती है, जैसी स्वामी विवेकानन्द के आगमन से हुई। विवेकानन्द एक विद्वान् संन्यासी हैं, जिनके हमारी भाषा पर अप्रतिम अधिकार ने हमें यह अवसर दिया है कि हम स्वयं को प्राच्य दृष्टिकोण से समझें तथा उन लोगों के बारे में ज्ञान प्राप्त करें, जिनकी विचित्र सभ्यता और दर्शन के सम्बन्ध में हमने इतना अधिक सुन रखा है।

इस हिन्दू बन्धु ने सार्वजनिक और निजी स्थानों पर खुले और स्पष्ट रूप से चर्चा की है। वे यह स्वीकार करते हैं कि भारत की जनता बड़ी गरीब है तथा अत्यन्त अशिक्षित है, वह विभिन्न सम्प्रदायों में बँटी हुई है तथा उनकी उपासना-पद्धति में एक ओर जहाँ मूर्तिपूजा है, वहीं दूसरी ओर मानव के दिव्यत्व की अत्यन्त उदार और व्यापक धारणा भी समाहित है जो मानव-भ्रातृत्व और ईश्वर के एकत्व पर आधारित है। उनका उद्देश्य हमारा धर्मान्तरण करना नहीं अथवा अपने ही जैसा सोचने के लिए बाध्य करना नहीं, वरन् वह साधन प्राप्त करना है, जिससे वे भारत में शिक्षकों की शिक्षा हेतु एक महाविद्यालय की स्थापना कर सकें, ताकि वे शिक्षक जन साधारण के बीच जाकर बहुतायत से विद्यमान वर्तमान कुरीतियों को दूर कर सकें। उन्होंने कहा कि भारत पुरोहितों के उत्पीड़न से त्रस्त है। यह पुरोहिती प्रपंच सत्य को विकृत कर अज्ञान को चिरस्थायी बना देता है। यह पुरोहिती प्रपंच सत्य की अपरिष्कृत और संकुचित व्याख्या कर लोगों को पथभ्रष्ट करता है तथा उनकी नैतिक उन्नति को अवरुद्ध कर देता है।.... वे मूर्तिपूजा में भी अच्छाई देखते हैं।.... वे खुले रूप से यह कहते हैं कि हम पाश्चात्यवासी भी पौरोहित्य के प्राबल्य के कारण आगे बढ़ने से रुक गये हैं तथा हम भी मूर्तिपूजा-मूलक उपासना से मुक्त नहीं।.... जब

हमने उनसे हमारे अपने सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत जानना चाहा, तो उन्होंने कहा कि उनकी दृष्टि में हमारी दो बातें सबसे उल्लेखनीय हैं-- एक तो सामाजिक मर्यादा और बौद्धिक उत्कर्ष के क्षेत्र में हमारी महिलाओं की श्रेष्ठता और दूसरी, हमारी दान-व्यवस्था एवं दरिद्रों के प्रति हमारा व्यवहार।....पर उन्हें हमारी भौतिक प्रगति के प्रति कोई सम्मान नहीं, क्योंकि यह मानव को अधिक अच्छा नहीं बनाती।..."

स्वामीजी का इरादा था कि वे तीन वक्तृता देकर डिट्रायट से चले जायेंगे। किन्तु लोगों की उनको और अधिक सुनने की माँग के आगे उन्हें अपना जाना स्थगित करना पड़ा, जैसा कि १९ फरवरी के 'डिट्रायट प्रेस' में छपी सूचना से पता चलता है-

'प्रेम' पर स्वामी विवेकानन्द

हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द बुधवार, २१ फरवरी की शाम को यूनिटेरियन चर्च में एक अतिरिक्त व्याख्यान 'प्रेम' विषय पर देंगे। उन बहुत से लोगों ने, जिन्होंने उन्हें इसके पहले सुना है तथा उन बहुतों ने, जो सुनने में असमर्थ रहे हैं, उनसे यह विशेष प्रार्थना की है कि उन लोगों को उनका रोचक तथा वाग्मितापूर्ण भाषण सुनने का एक और अवसर दिया जाय।

व्याख्यान २१ फरवरी को न होकर वास्तव में २० फरवरी, मंगलवार को था। प्रेस की इस गलती के बावजूद यूनिटेरियन चर्च श्रोताओं से खचाखच भर गया था। प्रथम तीन व्याख्यानों के बारे में भगिनी ख्रिस्तीन ने लिखा था- "जो पहले व्याख्यान के लिए यूनिटेरियन चर्च में आये, वे दूसरे और तीसरे में भी आये और

दूसरों को भी यह कहकर साथ ले आये कि आओ, इस अद्भुत व्यक्ति को सुनो। इनके-जैसा आज तक हमने किसी को नहीं सुना। और वे आये, इतने आये कि उनके खड़े होने की जगह न रही। सारा हॉल भर गया तथा लोग बरामदे में खड़े हो खिड़कियों से झाँकते रहे।" पर इस चौथे व्याख्यान में तो इन तीनों की अपेक्षा भी अधिक भीड़ थी, जैसा कि 'डिट्रायट फ्री प्रेस' ने लिखा—"गत रात्रि विवेकानन्द ने यूनिटेरियन चर्च में 'ईश्वरीय प्रेम' पर भाषण दिया। श्रोताओं की संख्या इसके पहले इतनी अधिक कभी नहीं थी।..."

२१ फरवरी के 'डिट्रायट ट्रिब्यून' के अनुसार—"गत रात्रि प्रथम यूनिटेरियन चर्च विवेकानन्द को सुनने के लिए जनसंकुल हो गया। श्रोता विशेषकर जैफर्सन एवन्यू तथा वुडवर्ड एवन्यू के ऊपरी हिस्से के थे। अधिकांश इनमें महिलाएँ थीं, जिन्होंने व्याख्यान में अत्यधिक रुचि दिखलायी। वे इस ब्राह्मण की टिप्पणियों पर बड़े उत्साह से हर्ष प्रकट करती रहीं।" 'डिट्रायट जर्नल' ने इस व्याख्यान के बारे में लिखा—"यदि ब्राह्मण संन्यासी विवेकानन्द, जो कि इस शहर में भाषणमाला दे रहे हैं, एक हफ्ता और ठहरने के लिए राजी किये गये, तो डिट्रायट का बड़ा से बड़ा हॉल भी उनके उत्सुक श्रोताओं की भीड़ को समाने में समर्थ न होगा। वे सचमुच में लोगों के मन में बस गये हैं। विगत सन्ध्या यूनिटेरियन चर्च की हर सीट भर चुकी थी तथा बहुतों को पूरे

व्याख्यान भर खड़े रहने को बाध्य होना पड़ा ।"

इस भाषण में स्वामीजी ने सच्चे प्रेम की व्याख्या करते हुए कहा कि प्रेम ऐसी वस्तु है, जिसमें स्वार्थ का लेश नहीं होता, जिसमें व्यक्ति अपने प्रेमास्पद की प्रशंसा और भजन को छोड़ और कोई विचार नहीं करता। प्रेम एक ऐसा गुण है, जो भक्ति करता है, पूजा करता है, पर बदले में कुछ नहीं चाहता ।

हिन्दू नारी सन्त मीराबाई के भक्तिमय और प्रेम-पूर्ण जीवन का उल्लेख करते हुए उन्होंने उनके हृदय की अनुपम लगन का वर्णन किया––"मैं सम्पत्ति नहीं चाहती, मैं पद नहीं चाहती, मैं मुक्ति नहीं चाहती, यदि तू चाहे तो मुझे हजारों नरकों में डाल, पर मुझे तू अपने से प्रेम करने दे ।" उन्होंने कहा––"प्रेम एक यज्ञ है । यह कभी लेता नहीं, पर सदा देना चाहता है । हिन्दू अपने प्रभु से कुछ नहीं माँगता, कभी स्वर्ग की अथवा मुक्ति की कामना नहीं करता, वह केवल यही चाहता है कि उसकी सारी आत्मा अनन्य प्रेम के साथ प्रभु के प्रति समर्पित रहे । यह अद्‌भुत अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब व्यक्ति ईश्वर के लिए उत्कट कामना महसूस करता है । और तब प्रभु अपनी पूर्ण महिमा के साथ प्रकट होते हैं ।

"ईश्वर की ओर देखने के तीन तरीके हैं । पहला यह कि उन्हें एक शक्तिमान ऐश्वर्यशाली व्यक्ति के रूप में देखना तथा उनके ऐश्वर्य के सम्मुख नत होकर उनकी

पूजा करना। दूसरा, उन्हें पिता के रूप में पूजना। भारत में पिता बच्चों को दण्ड देता है, अतः पिता के प्रति प्रेम और श्रद्धा में भय का भाव मिश्रित रहता है। एक और तरीका यह है कि ईश्वर को माता के रूप में देखना। भारत में माता के प्रति सदैव हृदय का सच्चा प्रेम और श्रद्धा अर्पित की जाती है। यह भारतीयों का ईश्वर को देखने का अपना दृष्टिकोण है।"

पाश्चात्यों के स्वार्थपरक प्रेम की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा, "ईसाई ईश्वर से सदा ही कुछ न कुछ माँगता रहता है। वह सर्वशक्तिमान के सिंहासन के सामने भिखारी के रूप में उपस्थित होता है। एक भिखारी की कहानी है कि उसने एक सम्राट् से भिक्षा माँगी। जब वह प्रतीक्षा कर रहा था, तो सम्राट् का पूजा करने का समय हो गया। सम्राट् ने प्रार्थना की, 'हे ईश्वर! मुझे अधिक सम्पत्ति दे; अधिक शक्ति दे; और विशाल साम्राज्य दे।' भिखारी जाने लगा। सम्राट् मुड़ा और उससे पूछा, 'तुम जा क्यों रहे हो?' उसका उत्तर आया, 'मैं भिखारियों से नहीं माँगता!' आजकल धर्म केवल शौक और फैशन का विषय रह गया है। लोग भेड़ों के रेवड़ की भाँति गिरजों में जाते हैं। वे ईश्वर को हृदय से इसलिए थोड़े ही लगाते हैं कि वे उसकी आवश्यकता महसूस करते हैं, बल्कि इसलिए कि उसके पीछे स्वार्थबुद्धि है। अधिकतर लोग जो यह सोच-कर आत्मसन्तोष करते हैं कि वे निष्ठावान आस्तिक हैं,

वस्तुतः अवचेतन स्तर पर नास्तिक होते हैं।"

२१ फरवरी को सायंकाल स्वामीजी ने श्रीमती बागली के निवास स्थान पर अपना पाँचवा व्याख्यान दिया। समाचार-पत्रों के अनुसार यह सर्वाधिक रोचक भाषण था। इसमें नगर के समस्त गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। श्रीमती बागली लिखती हैं--"मैंने इसमें वकीलों, न्यायाधीशों, पादरियों, सैन्य अधिकारियों चिकित्सकों तथा व्यापारियों को अपनी अपनी पत्नियों और पुत्रियों के साथ आमन्त्रित किया था। विवेकानन्द दो घण्टों तक 'भारत के प्राचीन दार्शनिक और उनका सन्देश' विषय पर बोले। सब लोग अन्त तक उन्हें अत्यन्त रुचि के साथ सुनते रहे। जहाँ भी वे बोले, लोगों ने बड़े आनन्द के साथ सुना और कहा, 'मैंने कभी किसी व्यक्ति को ऐसा बोलते नहीं सुना'!"

स्वामीजी के विरोधियों का एक आरोप यह भी था कि उनके व्याख्यान केवल सम्पन्न व्यक्तियों और फैशन परस्त लोगों के लिए हैं, गरीब लोग उनके भाषणों का आनन्द नहीं उठा पाते। एक अज्ञात व्यक्ति द्वारा २० मार्च, १८९४ को 'फ्री प्रेस' में लिखा गया--"विवेकानन्द ने 'डिट्रायट ऑपेरा हाऊस' में अपने श्रोताओं से कहा, 'भारत में फ्रान्सिस सेवियर जैसे मिशनरी भेजो, जो पददलित लोगों के बीच रहें।' यह दृष्टान्त भारत के लिए जितना सही है, उतना ही इस देश के लिए भी है, क्योंकि विवेकानन्द सच्चे ईसाई धर्म का गुणगान तो

करते हैं और फ्रान्सिस सेवियर की नाईं स्तुत्य मिशनरी कार्य में भी प्रवृत्त हुए हैं, पर डिट्रायट के गरीब उन्हें सुन नहीं पाते, क्योंकि उन लोगों के पास बैठने के लिए देने को पैसे नहीं हैं, और उनके वस्त्र इतने गये-बीते हैं कि उन वस्त्रों में वे सुसज्जित वेशभूषायुक्त श्रोताओं के साथ बैठने के योग्य नहीं !..."

इसमें सन्देह नहीं कि स्वामीजी का श्रोता वर्ग डिट्रायट के श्रेष्ठ व्यक्तियों का था, पर उन्होंने इन्हीं सब व्यक्तियों को ईसाई धर्म के दोषों के लिए उत्तरदायी ठहराया था, और, जैसा कि इस व्याख्यान में दृष्टिगोचर होगा, इनकी कड़ी आलोचना की थी। यद्यपि इन्हीं लोगों ने स्वामीजी की धन आदि से सहायता की थी, पर वे उनकी खामियों से उन्हें अवगत कराना नहीं भूले और उनके मुख पर ही उन्हें दो टूक बातें सुनायीं। उन्हें ठकुर-सुहाती बातें करना पसन्द न था। जहाँ भी वे स्वार्थपरता तथा भोगपरायणता को अच्छाई का बाना पहने देखते उसकी कड़ी भर्त्सना करते। पर उस भर्त्सना और आलोचना में कटुता न थी, था सद्भाव, थी हृदय की आन्तरिकता, जो श्रोताओं को स्पर्श कर लेती थी। श्रीमती बागली ने लिखा--"वे विरोध नहीं करते, किन्तु लोगों को एक उच्च धरातल पर उठा ले जाते हैं, जिससे वे मानव-निर्मित जातियों और सम्प्रदायों से परे उठकर कुछ और ही देख पाते हैं तथा अपने धार्मिक विश्वासों में उनके साथ एकत्व का अनुभव करते हैं।"

२१ फरवरी का व्याख्यान 'डिट्रायट फ्री प्रेस' में 'हिन्दू और ईसाई' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। इसमें स्वामीजी ने हिन्दू के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का विश्लेषण करते हुए हिन्दू और ईसाई भावधारा का अन्तर दर्शाया और कहा--

हममें और ईसाइयों में एक बात बहुत ही भिन्न है, ऐसी बात, जो हमने कभी नहीं सिखायी और वह है ईसा के रक्त द्वारा मोक्ष प्राप्त करना अथवा किसी अन्य व्यक्ति के रक्त के द्वारा आत्मप्रक्षालन करना। यहूदियों की भाँति हमारे यहाँ भी बलिदान था। हमारे बलिदान का सीधा अर्थ यह है, कि जैसे हम कुछ खाने जा रहे हों और जब तक उसका कुछ भाग भगवान् को समर्पित नहीं करते, उस पदार्थ को खाना बुरा है, इसलिए मैं खाद्यपदार्थ का समर्पण करता हूँ। यह एक शुद्ध और सात्त्विक भाव है। पर यहूदी का भाव यह होता है कि उसका पाप मेमनें पर चला जाय और मेमनें का बलिदान कर दिया जाय तथा वह स्वयं बेबाक निकल आये। हमने ऐसे सुन्दर भाव का विकास भारत में कभी नहीं किया! और मुझे खुशी है कि हमने ऐसा नहीं किया। कम से कम मैं ऐसे सिद्धान्तों द्वारा अपनी रक्षा नहीं चाहूँगा। यदि कोई आकर मुझसे कहे, 'मेरे रक्त द्वारा अपनी रक्षा कर लो,' तो मैं कहूँगा, 'मेरे भाई! तुम चले जाओ, मुझे नरक जाना पसन्द है। मैं कायर नहीं, जो स्वयं स्वर्ग जाने के लिए एक एक निर्दोष का रक्त लूँ। मैं नरक के लिए प्रस्तुत हूँ।' ऐसा सिद्धान्त हमारे बीच कभी नहीं पनपा और हमारे पैगम्बर कहते हैं कि जब कभी पृथ्वी पर अधर्म और अनैतिकता फैलेगी, वे (ईश्वर) पृथ्वी पर अवतरित होंगे और अपनी सन्तानों की रक्षा करेंगे। वे (ईश्वर) समय समय पर स्थान स्थान पर यही करते

आ रहे हैं और जहाँ कहीं तुम किसी असाधारण पवित्र व्यक्ति को मानवता का उन्नयन करते देखो, तो जान लो कि वे (ईश्वर) उसमें हैं ।

अत: तुम समझ लो कि यही कारण है हम किसी धर्म से नहीं लड़ते । हम यह नहीं कहते कि हमारा ही मार्ग मुक्ति का मार्ग है । पूर्णता हर किसी के द्वारा प्राप्त की जा सकती है । और इसका प्रमाण क्या ? यही कि हम सभी देशों में पवित्रतम मनुष्यों, श्रेष्ठ स्त्री और पुरुषों को देखते हैं, चाहे वे हमारे धर्म में उत्पन्न हुए हों या नहीं ।....

मूर्तिपूजा को ईश्वर-प्राप्ति का एक बाह्य साधन निरूपित करते हुए उन्होंने कहा कि इसके माध्यम से व्यक्ति उस अखण्ड अनन्त आनन्दमय प्रभु की कल्पना करने का प्रयास करता है । बिना किसी आधार के ईश्वर की धारणा करना कठिन है । उन्होंने आगे कहा--

कोई व्यक्ति पाश्चात्य अर्थ में अद्‌भुत विद्वान हो सकता है, पर यह सम्भव है कि वह धर्म का क ख ग भी न जानता हो । मैं उससे कहूँगा, उससे प्रश्न करूँगा, 'क्या तुम आत्मा के बारे में, जैसा वह है, विचार कर सकते हो ? क्या तुम आत्मा के विज्ञान में आगे बढ़े हो ? क्या तुमनें जड़तत्त्व से परे अपने आत्मा को व्यक्त किया है ?' यदि नहीं, तो मैं उससे कहूँगा, 'धर्म तुम्हारे हाथ नहीं लगा है, यह सब केवल बकवास, पोथीज्ञान और मिथ्याभिमान है ।' पर यह बेचारा हिन्दू, मूर्ति के सामने बैठता है और सोचने की कोशिश करता है कि वह ईश्वर है और तब कहता है, 'हे प्रभो ! मैं तुम्हारी कल्पना आत्मा के रूप में नहीं कर सकता । अतएव मुझे इसी रूप में अपनी कल्पना करने दो ।' और तब वह अपनी आँखें खोल इस रूप को देखता है तथा

दण्डवत् प्रणाम कर पुनः अपनी प्रार्थना दुहराता है, और जब उसकी प्रार्थना खत्म हो जाती है, तो वह कहता है, 'हे प्रभो ! अपनी इस अपूर्ण अर्चना के लिए मुझे क्षमा करो ।'

तुमसे हमेशा यह कहा जाता है कि हिन्दू पत्थर की पूजा करता है । अब ऐसे लोगों के भक्तिमय स्वभाव के बारे में तुम क्या समझते हो ? इन पाश्चात्य देशों में आनेवाला मैं प्रथम संन्यासी हूँ । संसार के इतिहास में यह पहला अवसर है, जब एक हिन्दू संन्यासी ने समुद्र पार किया है । किन्तु हम ऐसी आलोचनाएँ और ऐसी बातें सुनते रहते हैं । और जानते हो, मेरे राष्ट्रवालों का तुम्हारे प्रति सामान्य दृष्टिकोण क्या है ? वे हँसते हैं और कहते हैं, 'वे बच्चे हैं, वे भौतिक विज्ञान में बड़े हो सकते हैं, बड़ी बड़ी चीजें बना सकते हैं पर धर्म में निरे बच्चे हैं !' यही मेरे देशवासियों का दृष्टिकोण है ।

एक बात मैं तुमसे कहूँगा और मेरा आशय कोई अप्रिय आलोचना नहीं है । तुम किसलिए मनुष्यों को सिखाते और शिक्षित करते हो, वस्त्र और धन देते हो ? केवल इसी के लिए न, कि वे मेरे देश में आकर मेरे सभी पूर्वजों को, मेरे धर्म को और सभी बातों को कोसें और गालियाँ दें । वे एक मन्दिर के निकट जाते हैं और कहते हैं, 'ऐ बुतपरस्तो ! तुम लोग नरक में गिरोगे ।' पर वे भारत के मुसलमानों के प्रति ऐसा कहने का साहस नहीं करते. क्योंकि वहाँ तलवार निकल पड़ेगी । किन्तु हिन्दू बहुत नम्र होता है । वह मुसकराकर चल देता है और कहता है, 'मूर्ख को बकने दो ।' यही उनका दृष्टिकोण है । और यदि मैं तुमको, जो कि अपने आदमियों को आलोचना करना और गाली देना सिखाते हो, नितान्त सदुद्देश्य से तनिक-सी आलोचना से छूता भी हूँ, तो तुम सिहर उठते हो और चिल्लाते हो, 'हमें न छुओ, हम अमेरिकन हैं । हम संसार के सब लोगों की आलोचना

करते हैं, उन्हें कोसते हैं, उन्हें गालियाँ देते हैं, उन्हें चाहे जो कहते हैं, पर हमें न छुओ, हम छुईमुई हैं।' तुम जो चाहो करो, पर साथ ही मैं तुम्हें यह बताने जा रहा हूँ कि हम जैसे हैं, उसी में सन्तुष्ट हैं, और एक बात में हम तुमसे अच्छे भी हैं, हम अपने बालकों को ऐसी भयानक चीजें निगलना नहीं सिखाते कि जहाँ हर चीज तो प्रसन्नता देनें वाली है, केवल मनुष्य ही नीच है। और जब कभी भी तुम्हारे पादरी हमारी आलोचना करें, तो वे यह याद रखें कि यदि सम्पूर्ण भारत खड़ा हो और हिन्द महासागर के तल का सारा कीचड़ उठाकर उसे पाश्चात्य देशों की ओर फेंके, तो यह उसका अति सूक्ष्मांश भी नहीं होगा, जो तुम हमारे साथ कर रहे हो। और यह किसलिए ? क्या हमने कभी एक भी धर्मप्रचारक संसार में किसी का धर्म-परिवर्तन करने के लिए भेजा ? हम तो तुमसे कहते हैं, 'तुमको तुम्हारा धर्म मुबारक हो, पर मुझे अपना धर्म रखने दो।' तुम अपने धर्म को आक्रामक धर्म कहते हो। तुम आक्रामक हो, पर तुमने कितनों को लिया है ? संसार का हर छठा व्यक्ति चीनी प्रजा है अर्थात् बौद्ध है, और फिर जापान, तिब्बत, रूस, साइबेरिया, बर्मा और स्याम तो हैं ही। यह सुनना चाहे अच्छा न लगे, किन्तु यह ईसाई नैतिकता, यह कैथोलिक सम्प्रदाय सब उन्हीं से निःसृत हैं। अच्छा, तो यह कैसे हुआ ? बिना रक्त की एक बूँद बहाये ? अपने दम्भ और आत्मश्लाघा के बावजूद तलवार की सहायता बिना क्या तुम्हारी ईसाइयत कहीं सफल हुई है ? सारे संसार में मुझे एक स्थान दिखाओ। केवल एक, मैं कहता हूँ ईसाई धर्म के सम्पूर्ण इतिहास में एक मुझे दिखलाओ; केवल एक, मैं दो नहीं चाहता। मैं जानता हूँ, तुम्हारे पूर्वजों का किस प्रकार धर्म-परिवर्तन किया गया। उनके सामनें एक ही रास्ता था—धर्म-परिवर्तन करें अथवा मारे जाँय; बस, यही। तुम अपने समस्त दम्भ के बावजूद

इस्लाम धर्म की अपेक्षा क्या अच्छाई कर सकते हो ? 'बस हमीं हैं !' और क्यों ? 'क्योंकि हम दूसरों को मार सकते हैं !' अरबों ने यही कहा, यही दम्भ भरा। और आज अरब कहाँ है ? वह आज खानाबदोश है। रोमन ऐसा ही कहा करते थे, पर आज वे कहाँ हैं ? 'शान्ति लाने वाले ही धन्य हैं, वे ही पृथ्वी का आनन्द लेंगे'-- ऐसी सारी बातें भूमिसात् हो जाती हैं, वे रेत पर बनी होती हैं, अधिक समय नहीं टिक सकतीं।

हर ऐसी वस्तु, जो स्वार्थ पर आधारित हो, प्रतियोगिता जिसका दाहिना हाथ हो और भोग जिसका लक्ष्य हो, शीघ्र या कुछ विलम्ब से अवश्य नष्ट होगी। ऐसी वस्तुएँ अवश्य नष्ट होंगी। भाइयो ! मैं तुमको बताऊँ, यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, यदि वास्तव में तुम चाहते हो कि तुम्हारा राष्ट्र जीवित रहे, तो ईसा के पास लौट चलो। तुम ईसाई नहीं हो। नहीं, एक राष्ट्र के रूप में नहीं हो। ईसा के पास लौट चलो। उसके पास लौट चलो, जिसके पास कहीं सिर टेकने को स्थान न था। 'चिड़ियों के घोंसले हैं और पशुओं की माँद है, पर मनुष्य के इस पुत्र के पास सिर टेकने को कोई स्थान नहीं है।' तुम्हारा धर्म ऐसा है, जो विलास के नाम पर प्रचारित होता है। भाग्य का यह कैसा व्यंग हैं ? यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, तो इसे उलट दो; हाँ इसे उलट दो। जो कुछ मैंने इस देश में सुना है, वह सब छल है, पाखण्ड है। यदि इस राष्ट्र को जीवित रहना है, तो इसे उसके (ईसा के) पास लौटने दो। तुम ईश्वर और कुबेर की सेवा एक साथ नहीं कर सकते। यह सारी समृद्धि और वह भी ईसा से ! ईसा इस प्रकार की समस्त नास्तिकता को अस्वीकार कर देते। कुबेर के साथ आनेवाली सारी समृद्धि केवल क्षणिक है। वास्तविक स्थायित्व केवल उसमें (ईश्वर में) है। यदि तुम इन दोनों को जोड़ सको, इस आश्चर्यजनक समृद्धि

को ईसा के सिद्धान्त के साथ मिला सको, तो ठीक है, पर यदि तुम ऐसा न कर सको, तो यह अधिक अच्छा होगा कि तुम उसके (ईसा के) के पास चले जाओ और इसका त्याग कर दो। अधिक अच्छा होगा कि तुम चिथड़े पहनकर ईसा के साथ रहो, बनिस्बत इसके कि तुम उससे रहित होकर महलों में रहो। (क्रमशः)

०

हमें दिखेगा कि मानवजाति के इतिहास में विश्व के कल्याण के लिए जो अवतार हुए हैं, उनका जीवन-व्रत प्रारम्भ से ही निश्चित रहा है। अपने जीवन का सारा नक्शा, सारी योजना उनकी आँखों के सामने थी, और उनसे वे एक इंच भर भी न डिगे। इसका कारण यह है कि वे अपने जीवन में विश्व के लिए एक सन्देश लेकर आये थे।...जब वे बोलते हैं, तो एक एक शब्द सीधे हृदय में प्रवेश करता है, वह बम के समान फूट पड़ता है और सुनने वाले पर अपना असीम प्रभाव जमा लेता है। निरी वाणी में क्या है, यदि वाणी के पीछे वक्ता की प्रचण्ड शक्ति न हो? तुम किस भाषा में बोलते हो और किस प्रकार अपनी भाषा में शब्द-विन्यास करते हो--इससे किसी को क्या मतलब? तुम अच्छी, लच्छेदार, ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हो, या व्याकरण-सम्मत भाषा बोलते हो, अथवा तुम्हारी भाषा अलंकारपूर्ण है या नहीं—इससे भी किसी का क्या प्रयोजन? प्रश्न तो है—तुम्हारे पास लोगों को देने के लिए कुछ है या नहीं? यहाँ केवल कहानी-किस्से सुनने की बात नहीं है, बात है देने और लेने की। तुम्हारे पास देने के लिए कुछ है? यही पहला और मुख्य प्रश्न है। यदि है, तो दो।

—स्वामी विवेकानन्द

श्री गुरुग्रन्थ साहिब

ब्रह्मचारी निगमचैतन्य, रामकृष्ण मिशन

भारतीय इतिहास पर यदि दृष्टिपात किया जाय, तो विदित होता है कि हमारे देश में जितने भी युग-पुरुष तथा महान् आत्माओं का आगमन हुआ है, उन सबको ललित कलाओं से अपार प्रेम था। समाज का कल्याण तथा धर्म की स्थापना करने के लिए उन्होंने ललित कलाओं में से साहित्य एवं संगीत को उपयुक्त माध्यम के रूप में चुना। भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश को 'गीता' (जो गायी जाये) कहा गया है। भारत में जन्म लेनेवाले बहुतेरे महापुरुषों को साहित्य और संगीत से केवल प्रेम ही नहीं था, बल्कि वे इन कलाओं में निपुण भी थे।

मध्यकाल में, जिसे मुगलकाल भी कहा जाता है, गुरु नानकदेव जी का जन्म हुआ। गुरु नानक एक निर्भय कर्मयोगी के अतिरिक्त साहित्य तथा संगीत के उच्च पण्डित भी थे। यही कारण है कि उनके मुख से निकली हुई वाणी संगीतमयी है। गुरु नानकदेव तथा उनके अनुयायी अन्य गुरुओं की वाणी गुरुग्रन्थ साहिब में मिलती है।

गुरुग्रन्थ साहिब विश्व के धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों में विशेष महत्त्व रखनेवाला सिक्खों का विशाल ग्रन्थ है। गुरु आचार का, अज्ञान के विनाश का, माया-संसार से बचाने का, जीवन में सत्य और प्रेम की ज्योति प्रदान करने का तथा आत्मा को परमात्मा बनाने का

एक प्रतीक है। ग्रन्थ को, चाहे वह कोई भी हो, महान् तभी कहना चाहिए, जब वह मानव के मन, वचन और कर्म में सिद्धान्त या कला की प्रेरणा का प्रमाण बनकर व्यापक और प्रबल रूप से समा जाय। इन्हीं कारणों से सिक्ख गुरुग्रन्थ साहिब को बड़ी श्रद्धा से पढ़ते हैं और ठीक उसी ढंग से सम्मान देते हैं, जैसे हिन्दू मन्दिरों में भगवान् की मूर्ति को। सिक्ख-परिवार में जन्म, विवाह, मृत्यु तथा अमृत के संस्कार गुरुग्रन्थ साहिब को साक्षात् ईश्वर मानकर विधिपूर्वक किये जाते हैं।

गुरुग्रन्थ साहिब के सम्पादक एवं निर्माणकर्ता गुरु अर्जुनदेव थे। उन्होंने सन् १६०४ में इसकी रचना की। इसकी मूल प्रति अभी भी करतारपुर (जालन्धर) में रखी हुई है। इसमें प्रथम पाँच गुरुओं तथा नौवें गुरु तेग बहादुर जी की वाणियों का संग्रह है। इस ग्रन्थ को संकलित करने के लिए गुरु अर्जुनदेव बाबा मोहरी के पास गोंदवाला गये और उनके पास से उन्होंने गुरु नानक देव, गुरु अंगददेव तथा गुरु अमरदास जी की वाणी की रचनाएँ प्राप्त कीं। उन्होंनें इसे यहीं तक सीमित न रखा, बल्कि इसमें हिन्दू भक्तों तथा मुसलमान सूफियों के वचनों तथा गीतों का भी संग्रह किया। बाद में गुरु गोविन्दसिंह ने इसमें गुरु तेग बहादुर के वचनों तथा गीतों का योग किया। तब से गुरुग्रन्थ साहिब का रूप इसी प्रकार रहा और इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

गुरुग्रन्थ साहिब में कुल ५८६४ छन्द हैं। इसमें

गुरु अर्जुनदेव ने २२१६ छन्दों की रचनाएँ की हैं, जो सबसे अधिक हैं। गुरु नानक के ९७६ छन्द हैं। गुरु तेग बहादुर के ११८ छन्द हैं, अन्य भजनों और गीतों की संख्या ९३७ है तथा शेष में अन्य सन्तों की रचनाएँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार गुरुग्रन्थ साहिब में केवल सिक्ख गुरुओं के वचन तथा गीत ही नहीं हैं, बल्कि जिस समय सिक्ख धर्म का उदय हुआ था, उस समय के बड़े बड़े सन्त जैसे नामदेव, कबीर, रामानन्द, रविदास, जयदेव, सूरदास, मीराबाई तथा अन्य सन्तों के वचन तथा गीत भी उसमें सम्मलित हैं। आजकल गुरुग्रन्थ साहिब की भाषा प्राचीन-जैसी लगती है, परन्तु जिस समय इसका पहली बार संकलन हुआ था, यह भाषा साहित्यिक मानी जाती थी।

सारा ग्रन्थ साहिब छन्दों में लिखा हुआ है। इसकी रचना कई प्रकार के रागों तथा मात्राओं में की गयी है। इसमें कुल ३१ रागों का प्रयोग किया गया है और गुरु नानकदेव की वाणी २० रागों में रचित हुई है। इसके राग, स्वर और ताल भिन्न भिन्न होते हुए भी सुनने में बहुत मधुर लगते हैं। इसकी भाषा हिन्दी, संस्कृत, फारसी, गुजराती, सिन्धी, ब्रज भाषा तथा पंजाबी है। इसमें वेद, पुराण तथा कुरान की भी महिमा गायी गयी है।

गुरुग्रन्थ साहिब के लगभग प्रत्येक छन्द के अन्त में 'नानक' शब्द मिलता है। इससे लोग यह न समझ बैठें कि यह सब गुरु नानक जी की रचना है। इस

भ्रान्ति को दूर करने के लिए वाणी के पहले 'महला' शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे महला १, महला २, महला ३, महला ४, महला ५ तथा महला ९। महले में रचनाएँ इस प्रकार हैं--

महला १ – गुरु नानकदेव की रचनाएँ,
महला २ – गुरु अंगददेव की रचनाएँ,
महला ३ – गुरु अमरदास की रचनाएँ,
महला ४ – गुरु रामदास की रचनाएँ,
महला ५ – गुरु अर्जुनदेव की रचनाएँ,
महला ९ – गुरु तेग बहादुर की रचनाएँ।

वास्तव में गुरु अर्जुनदेव इस भौतिक शरीर को भगवान् का मन्दिर मानते थे। उर्दू में मन्दिर को महल कहते हैं। सब गुरुओं की रचनाओं को भौतिक शरीर की दृष्टि से महल माना गया है। इसीलिए उनकी रचनाओं का परिचय महला शब्द से दिया गया है।

गुरुग्रन्थ साहिब का आरम्भ जपजी से होता है। इसमें ३८ पौड़ियाँ हैं तथा १ श्लोक आरम्भ में और १ श्लोक अन्त में लिखा हुआ है। यह रचना गुरु नानक देव की है। जिस प्रकार गीता सारे हिन्दू धर्म का सार है, उसी प्रकार जपजी सारे गुरुग्रन्थ साहिब का सार है। जपजी बिना किसी साज के गाया जाता है, शेष ग्रन्थ साहिब रागों के अनुसार गाया जाता है। गुरु नानक के भक्त जपजी का उच्चारण प्रातःकाल करते हैं।

जपजी की कहाँ और किस स्थान पर रचना हुई

इसका ठीक ठीक अनुमान नहीं है। अलग अलग साहित्यकारों का अलग अलग मत है। किसी का विचार है कि जपजी तब लिखी गयी, जब गुरु नानकदेव ने अन्त समय में करतारपुर में वास किया। दूसरों का कहना है कि यह सिद्ध योगियों के साथ उनकी चर्चा के फलस्वरूप लिखी गयी थी। पर अन्य लोगों का कथन है कि यह उनके बगदाद में काजी मुल्लाओं के साथ वार्तालाप का सारांश है। जो हो, जपजी को चार भागों में बाँटा जा सकता है। पहली सात पौड़ियों में जिज्ञासु की आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान किया गया है। अगली बीस पौड़ियों में क्रमशः ईश्वर की विभूतियों का वर्णन है। आगे की चार पौड़ियों में उस साधक की अवस्था का वर्णन किया गया है, जिसने ईश्वर के रस का पान कर लिया है। अन्त की सात पौड़ियों में विभिन्न प्रकार की आध्यात्मिक अवस्थाओं तथा पूर्ण आनन्द का वर्णन है।

जपजी में कहा गया है कि ईश्वर एक है। वह मनुष्य को भक्तिमार्ग से ईश्वर के दर्शन कराता है। जपजी का आरम्भ एक मूल मन्त्र से होता है, जिसका अर्थ है कि ईश्वर एक तथा सर्वशक्तिमान है, जो पहले नाम के रूप में अवतीर्ण हुआ तथा बाद में संसार के रूप में।

जपजी तथा शेष ग्रन्थ साहिब के लिखने का ढंग अलग अलग है, यद्यपि दोनों की भाषा गुरुमुखी ही है। गुरुग्रन्थ साहिब के मुख्यतः तीन भाग हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) 'रहरास'--यह सन्ध्या समय गाया जाता है। इस गायी जानेवाली आरती को 'आरती' धुन भी कहा जाता है। यह ९ छन्द राग आसावरी तथा गूजरी में रचित है, जिसको साधारण लोग भी बड़ी आसानी से गा सकते हैं।

(२) 'कीर्तन सोहला'-- यह राग गौरी, आसा तथा धनसारी में रचित छन्द है। ये रात्रि के समय सोने से पहले गाये जाते हैं। इसके पश्चात् ग्रन्थ साहिब का मुख्य भाग है, जो ३१ रागों में विभक्त है। प्रत्येक राग सिक्ख गुरु की रचनाओं से आरम्भ होता है तथा किसी भक्त की रचना से समाप्त होता है।

(३) 'भोग'-- संस्कृत में भोग का अर्थ होता है आनन्द, किन्तु हिन्दू तथा सिक्खों के धार्मिक ग्रन्थों के अन्त के लिखे हुए भाग को भी भोग कहा जाता है। इसमें गुरु नानकदेव के संस्कृत में ४ श्लोक हैं; फिर अर्जुनदेव के एक मात्रा में गाये जानेवाले संस्कृत में ६७ श्लोक हैं तथा दूसरी मात्रा में गाये जानेवाले २४ श्लोक हैं। इसी के बाद उन्होंने २३ श्लोक पंजाबी तथा हिन्दी में लिखे हैं, जिनमें अमृतसर की प्रशंसा की गयी है। तत्पश्चात् २४३ छन्द कबीर के, १३० शेख फरीद के तथा कुछ अर्जुनदेव के वचन हैं। उसके बाद भाट तथा गुरु तेग बहादुर की मिली-जुली ६ रचनाएँ हैं।

गुरुग्रन्थ साहिब की समाप्ति 'भोग की वाणी' से होती है और आरम्भ 'श्लोक महला पहला' से। इसके पश्चात् गुरु नानक द्वारा मलहार के राजा को

दिये गये उपदेश हैं। फिर इन्हीं की लिखी 'रत्नमाला' है, जिसमें भक्त के लक्षणों का मार्मिक वर्णन है। अन्त में हकीकत है, जो लंका के राजा शिवनाम के बारे में लिखी गयी है। यह भाई भानु की रचना है, जो गुरु गोविन्दसिंह के समय में लिखी गयी थी।

गुरुग्रन्थ साहिब का धर्म पोथी का धर्म नहीं, अनुभव का धर्म है। धर्म का आधार अनुभव होता है, किसी प्रकार का दर्शन नहीं। इसका प्रधान तत्त्व ब्रह्म है, जिसे समस्त वेदों, उपनिषदों, वेदान्तदर्शन, शंकराचार्य और रामानुज ने स्वीकार किया है। ब्रह्म को गुरुग्रन्थ साहिब में निराकार, अवरण, अविनाशी, अगोचर, अगम, निरंजन, निरविकार, अभेद, अगाध, अनन्त, परब्रह्म, परमात्मा इत्यादि नामों से स्वीकार किया गया है। 'ब्रह्म' के लिए इस प्रकार के नाम वेदों और उपनिषदों में भी प्राप्त होते हैं।

उदाहरणार्थ रामकली महला ५ में ग्रन्थ साहिब में दिया है—

"महिमा न जानियें बेद
ब्रह्में नहीं जानियें भेद
अवतार न जानिये अन्त
परमेश्वर पारब्रह्म बेअन्त।"

भारतीय समाज के रीति-रिवाजों का अधिक भाग जन्म, विवाह और मृत्यु इन तीन अवस्थाओं से सम्बन्धित है। ग्रन्थ साहिब में भी इन तीनों अवसरों पर लोगों में

प्रचलित रीति-रिवाजों का वर्णन मिलता है। जैसे--

आसा दी वार महला १ में जन्म का वर्णन इस ढंग से है--

'गावहु सुतकु भरमु है दुजै लागे जाई
जयनु मरणा हुक्मु है भाणे आवे जाई।'

विवाह का--

'गावहु, गावहु री दुल्हनी मंगल चार
मेरे गृह आये राजा राम भतार।' --कबीर

मृत्यु के समय का--

'जानी धती चलाईया लिखियां आईया रुने
वरी सबाऐ
कईयां हंस थीया विछोड़ा जा दिन पुने
मेरी माये।'

ग्रन्थ साहिब की रचना छन्दबद्ध है। कविता का छन्द भारती है। काव्यवाणी अलंकारों से जड़ित है। करुणा, शृंगार, शान्त, भयानक, वीर, अद्भुत, हास्य और वीभत्स रसों से ओतप्रोत कविता बड़ी प्रभावशाली है।

अन्त में यही कह सकते हैं कि श्री गुरुग्रन्थ साहिब शब्दों के बहुविध नमूनों का अक्षय भण्डार है, भाषाओं के पारस्परिक सम्पर्क का विशाल संगम है, काव्य के विविध रूपों एवं शैलियों का सरस संग्रह है, अनुभवों के औदार्य एवं गाम्भीर्य का श्रेष्ठ आदर्श है तथा नीति, सदाचार और धर्म के सुमनों का एक अनुपम गुलदस्ता है।

मेरी अमरनाथ यात्रा

स्वामी आत्मानन्द

श्री अमरनाथजी के दर्शन की कामना लेकर हम पाँच मित्र आश्रम की पुरानी कार द्वारा १९ अगस्त, १९७२ की शाम को पहलगाम पहुँचे। अमरनाथजी की यात्रा में यह पहला मुकाम है, इसलिए इसे पहलगाम कहते हैं। यहाँ से अमरनाथ की दूरी ४५ किलोमीटर है, जिसे पैदल या घोड़े पर तय करना होता है। दूसरा मुकाम चन्दनवाड़ी पहलगाम से १३ किलोमीटर दूर है। तीसरा मुकाम शेषनाग चन्दनवाड़ी से १३ कि. मी., चौथा मुकाम पंचतरणी शेषनाग से १३ कि. मी. और अन्त में अमरनाथ पंचतरणी से ६ कि. मी. पर स्थित है। जब हम पहलगाम पहुँचे, तब 'छड़ी मुबारिक' वहाँ पहुँच चुकी थी। छड़ी मुबारिक अमरनाथजी का छत्र है, जिसे श्रीनगर-स्थित मठ से लाया जाता है। श्रावण-पूर्णिमा यानी राखी-पूर्णिमा की सुबह छड़ी मुबारिक के पीछे-पीछे सहस्र-सहस्र यात्री अमरनाथजी पहुँचते हैं और दर्शन एवं पूजा आदि के उपरान्त लौट आते हैं। इस समय शासन की ओर से निवास, दवा तथा भोजनादि के लिए दुकानों आदि सभी आवश्यक बातों का प्रबन्ध होता है।

इस वर्ष छड़ी मुबारिक पहलगाम से २१ अगस्त को ब्राह्ममुहूर्त में ४ बजे निकलनेवाली थी और उसी के साथ सारे यात्री। अबकी बार लगभग दस हजार यात्री पहलगाम में इकट्ठा हुए थे और शासन ने भी बड़े पैमाने पर व्यवस्था की थी। पर पिछले कुछ दिनों से

लगातार जोर की बारिश होने के कारण ऊपर पहाड़ों में भू-स्खलन हुआ, जिससे रास्ता टूट गया। अनधिकृत रूप से विदित हुआ कि कई घोड़े ऊपर भीषण ठण्ड के कारण मर गये; साथ ही कुछ व्यक्ति भी मारे गये। शासन अत्यन्त चिन्तित था। १९ अगस्त को भी पहाड़ों पर जोरदार वर्षा हो रही थी, इस कारण यात्रियों के लिए एक बड़ा खतरा पैदा हो गया था। शाम को सरकार ने मुनादी पिटवायी कि मौसम की विपरीतता के कारण २१ अगस्त को छड़ी मुबारिक के साथ केवल दस व्यक्ति ही जा पायेंगे। अन्य किसी को नहीं जाने दिया जायगा। एक सप्ताह तक अमरनाथजी के रास्ते के बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकेगा।

घोषणा सुनकर सभी यात्री निराश हो गये। अधिकृत तौर पर खबर लगी कि ऊपर रास्ता इतना खराब हो गया है कि सरकार अपनी सारी व्यवस्था समेट ले रही है, और इसका प्रमाण हमें दूसरे दिन मिल भी गया। यात्रियों की सुविधा के लिए सरकार ने गाँव-गाँव से जिन दो हजार घोड़ेवालों को ठेके पर पहलगाम बुला लिया था, उनको पैसा देकर चलता कर दिया। इससे हम लोगों की रही-सही आशा भी टूट गयी। एक दूसरी बात भी सुनायी पड़ी। यात्रियों में लगभग ५००-६०० साधु-संन्यासी थे; वे अड़ गये कि छड़ी मुबारिक के साथ हम भी जायेंगे। हमें कौन रोक सकता है? अगर हमें न जाने दिया गया, तो छड़ी मुबारिक भी यहाँ

से न जा सकेगी।

शासन संकट में पड़ गया। मंत्रियों सहित कई उच्च अधिकारी तब पहलगाम में थे। एक गुप्त बैठक में, जिसमें छड़ी के साथ चलनेवाले कुछ शीर्षस्थ संन्यासी भी शामिल थे, शासन ने यह तय किया कि ठीक है, यदि साधुओं का दल छड़ी मुबारिक को नहीं जाने देता तो न सही, पर यात्रियों को किसी भी कीमत पर आगे नहीं जाने दिया जायेगा। उन्होंने यह भी तय किया कि २४ अगस्त, पूर्णिमा की सुबह ४ बजे छड़ी मुबारिक को तीन व्यक्तियों के साथ हेलीकाप्टर द्वारा अमरनाथजी की गुफा पर पहुँचा दिया जायगा, जिससे परम्परा की रक्षा हो सके। जब २० अगस्त को सुबह विश्वस्त सूत्रों से हमें इस बात की खबर लगी, तो हमने श्रीनगर जाना स्थिर कर लिया। हमने विचार किया कि ६-७ दिन श्रीनगर और आसपास घूम लें। जब अमरनाथ का रास्ता खुल जायगा, तो फिर पहलगाम चले आयेंगे, पर अमरनाथजी के दर्शन किये बिना तो नहीं लौटेंगे।

२२ अगस्त की रात को श्रीनगर में रेडियो पर सुना कि आज शाम को ४ बजे छड़ी मुबारिक अमरनाथजी के लिए रवाना हो गयी है। साथ में यात्रियों का दल भी गया है, पर शासन ने यह ऐलान कर दिया है कि उसकी ओर से किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं रहेगी, जो जाना चाहें अपने जोखिम पर जायें। यह भी सुना कि दस हजार यात्रियों में से २-२॥ हजार ही

यात्रा पर आगे बढ़े, शेष वापस लौट गये हैं।

इससे यह तो पता चला कि अमरनाथजी का रास्ता खुल गया है। हम लोगों ने भी २५ अगस्त को पहलगाम पहुँचने का निश्चय कर लिया। २४ अगस्त को हम लोग सैर के लिए सोनमर्ग गये हुए थे। यह स्थान श्रीनगर से लेह-लद्दाख के रास्ते पर ८३ कि. मी. दूर है। वहाँ पता चला कि यहाँ से अमरनाथजी का रास्ता मात्र एक दिन का है। सोनमर्ग से १५ कि. मी. दूर बालटाल नामक जगह है, जहाँ तक कार जाती है। वहाँ से अमरनाथजी मात्र १७ कि. मी. रह जाते हैं। बड़ा लोभ हो आया——कहाँ पहलगाम से कम से कम ४ दिन अमरनाथजी की यात्रा में लगेंगे और कहाँ यहाँ से एक ही दिन ! क्या तय करें कुछ सोच नहीं पा रहे थे, क्योंकि सारे गरम कपड़े और पूजा के सामान आदि श्रीनगर में ही छोड़ आये थे, शाम तक श्रीनगर लौटने की जो बात थी ! अन्त में यही निश्चय किया कि रात किसी प्रकार सोनमर्ग में बिता लें और दूसरे दिन अमरनाथ की यात्रा कर लें।

सोनमर्ग में एक सुन्दर टूरिस्ट बँगला है। पर पैसा कमाने की फिराक में उसके अधिकारी ने बताया कि सारे कमरे 'बुक्ड' हैं। अन्त में एक छोटे से होटलवाले ने हमें शरण दी। फल की एकमात्र छोटीसी दुकान से पूजा के लिए सूखे मेवे और रास्ते के लिए फल खरीदे और एक दूसरी दुकान से किराये पर आवश्यक गरम

कपड़े, बरसाती और जूते ले लिये। सोनमर्ग में इन ३-४ दुकानों के अलावा और कोई झोपड़े नहीं हैं। रात में ठण्ड विकट थी, पर होटलवाले की शालीनता और उदारता से हमें पर्याप्त कम्बल मिल गये। रात में ही हमने एक 'गाइड' भी ठीक कर लिया।

अगले दिन यानी २५ अगस्त की सुबह 'गाइड' को लेकर हम लोग कार द्वारा बालटाल के लिए रवाना हुए। लेह-लद्दाख मार्ग पर ७ कि. मी. जाने पर एक फौजी चेकपोस्ट आया। वहाँ हमसे अनुमति-पत्र माँगा गया। मैंने अपने गेरुए कपड़े की ओर संकेत करते हुए कहा—'इसी को आप अनुमति-पत्र समझ लें। हम संन्यासी हैं और अमरनाथजी के दर्शनों को जा रहे हैं।' बस, फौरन् हमें अनुमति मिल गयी। लगभग एक किलो-मीटर आगे जाने पर एक कच्चा रास्ता दाहिने हाथ पर बालटाल के लिये उतर गया है। वहाँ से बालटाल ७ कि. मी. दूर है। वहाँ फौजियों के कुछ तम्बू तने हैं। हमने कार बालटाल में छोड़ दी और अमरनाथजी की १७ कि. मी. लम्बी यात्रा पर पैदल रवाना हो गये। गाइड ने घोड़े ले लेने को कहा, पर हमनें नाही कर दी। यात्रा के दिनों में यहाँ पर घोड़े मिल जाते हैं, पर इस रास्ते से इक्के-दुक्के लोग ही जाते हैं, अधिक संख्या फौजियों की होती है। यह रास्ता कितने समीप का है इसका अन्दाज इसी से लगता है कि श्रीनगर से आप कार या टैक्सी द्वारा ९८ कि. मी. दूर बालटाल

के लिए ४ बजे सुबह रवाना होकर ७ बजे पहुँच जाइए, वहाँ से घोड़े द्वारा १७ कि. मी. दूर अमरनाथजी ११ बजे तक पहुँचिए। १ घण्टा गुफा में बिताकर ४ बजे शाम तक बालटाल लौटिए और सोनमर्ग की हिम-नदियों तथा पार्वत्य-सौन्दर्य का आनन्द लेते हुए उसी रात १० बजे तक श्रीनगर वापस लौट आइए! है न चमत्कार! पर बहुधा लोग इस रास्ते को नहीं जानते। सरकार भी लोगों को इधर से जाने देना पसन्द नहीं करती, क्योंकि एक ही दिन में ३४ कि. मी. आना-जाना पड़ता है, रास्ते में रुकने की कोई जगह नहीं है। फिर पहाड़ टूटने का भय बहुत है। मनुष्यों के पदचाप से हिलकर पहाड़ टूट पड़ते हैं! उनकी साँसों की गरमी हिमखण्डों को पिघलाकर लुढ़का देती है! बड़े नाजुक जो हैं इधर के पहाड़! अस्तु।

बालटाल से ३ कि. मी. जाने पर ६ कि. मी. की सीधी चढ़ाई शुरू हो जाती है। इसमें १४ हजार फुट की ऊँचाई तक चढ़ना पड़ता है। ऊँचाई में साँस फूलने लगती है, एक एक कदम भारी लगता है। गला सूखने लगता है। ऐसी दशा में थरमस की गरम चाय या काफी बहुत उपकार करती है। पर हमारे पास यह सब कहाँ था? बीच में ३ हिमनदियाँ भी मिलीं। ऊपर बर्फ जमी होती है और नीचे वेग से जलप्रवाह बहता होता है। ये हिमनदियाँ कभी कभी भयानक दुर्घटना का कारण बन जाती हैं। पार करते समय बड़ी सावधानी बरतनी

पड़ती है। कभी कभी बीच की बर्फ एकदम टूट जाती है और उसके साथ यात्री नीचे गिरकर जलधारा में बह जाता है। गाइड इन विपत्तियों से रक्षा करता है। बर्फ और हिमनदियों को देखकर स्वामी विवेकानन्दजी की अमरनाथ-यात्रा की बात याद आ गयी। उनकी जीवनी में लिखा है कि जुलाई १८९८ ई० में वे सोनमर्ग के रास्ते अमरनाथजी की यात्रा पर निकले थे, पर रास्ते में बर्फ की अधिकता के कारण उन्हें वापस लौट आना पड़ा था। तात्पर्य यह कि सोनमर्ग का मार्ग भी पर्याप्त प्राचीन मालूम पड़ता है।

इस सीधी चढ़ाई के बाद १ मील का उतार आता है और वहाँ से पुनः ३ कि. मी. की सख्त चढ़ाई। यह चढ़ाई चढ़ लेने पर उसी स्थान पर पहुँचना होता है, जहाँ पंचतरणी से आनेवाला रास्ता मिलता है। यहीं से गुफा के दर्शन होने लगते हैं। इसके बाद ३ कि. मी. उतार का रास्ता है, जो अधिकांशत: बर्फ से ढका रहता है। अन्तिम १ कि. मी. गुफा तक पुन: कठिन चढ़ाई है। बड़ी मुश्किल से हम लोग गुफा के नीचे २ बजे पहुँचे। पर गुफा तक जाने का साहस न हो पा रहा था। ताकत जवाब दे रही थी। शरीर के भीतर की आर्द्रता नष्ट हो रही थी, *dehydration* के कारण बुरा हाल था। शरीर सुन्न हो रहा था और लेट जाने की इच्छा हो रही थी। गाइड ने यह देखा तो मना करते हुए बोला, "महाराज! यह क्या कर रहे हैं? उठिए, उठिए।

बैठिए मत। हाथ-पैर चलाते रहिए, नहीं तो गजब हो जायगा !" उससे मालूम पड़ा कि बर्फीले स्थानों पर ठण्ड के कारण अनभ्यस्त लोगों को हिम-रोग हो जाता है। इससे रोगी को तन्द्रा आती है और उसे सोने में सुख का अनुभव होता है। यदि वह सो जाय, तो फिर कभी नहीं उठता, उसकी वही चिर निद्रा होती है।

मैं उठ पड़ा। रास्ते में भाग्य से एक सज्जन ने मुझे एक नीबू दिया था। गाइड के निर्देशानुसार मैं उसे चूसने लगा। उससे कुछ शक्ति मिली। यात्री को साथ में कुछ नीबू और नमक अवश्य रख लेना चाहिए। गरम जल में नमक डालकर (गरम जल न हो तो ठण्डा जल ही चलेगा), नीबू का रस निचोड़कर उसे पीने से ताजगी मालूम पड़ती है। अस्तु। कुछ स्वस्थ होने पर नीचे बहनेवाली अमरगंगा में अंगों का प्रक्षालन कर, हृदय में साहस भर, अमरनाथजी का जय-जयकार करते हुए किसी प्रकार गुफा में पहुँचे। तब ३ बज चुके थे। १७ कि. मी. चलने में हमें ८ घण्टे लग गये। यदि गाइड की सलाह मानकर हम लोगों ने घोड़े कर लिये होते, तो इतना कष्ट न होता। गुफा का दृश्य अपूर्व था। १३॥ हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित यह नैसर्गिक गुफा लगभग ६० फुट लम्बी, २५ से ३० फुट चौड़ी और १५ फुट ऊँची है। प्रवेश करने पर दाहिनी ओर लगभग १८-२० फुट भीतर गुफा की दीवाल से लगा हुआ हिम-लिंग अपूर्व छटा बिखेरते हुए विद्यमान था। हिम के प्राकृतिक पीठ पर

बना ठोस बर्फ का यह लिंग उस दिन ६॥ फुट ऊँचा था और उसकी गोलाई ७-८ फुट रही होगी। मन के भीतर एक अपूर्व भाव का संचार होने लगा। श्रद्धाभक्तिपूर्वक मैंने अमरनाथजी को प्रणाम किया और भावातिरेक में उन्हें अपने आलिंगन-पाश में जकड़ लिया। तदनन्तर उनकी पूजा समाप्त कर मैं थोड़ी दूर पर खड़ा हो गया और चित्त अमरनाथजी की महिमा के ध्यान में डूब गया।

किसी ने कन्धा पकड़कर मुझे हिलाया; ध्यान टूटा तो देखा कि गाइड गुलाम मुहम्मद कह रहा है, "महाराज ! देर न कीजिए। लम्बा रास्ता है। देखिए, चार बज गये। देर होने पर कुछ भी हो सकता है।" मैंने भक्ति-गद्गद् चित्त से अमरनाथजी को पुनः प्रणाम किया और बाहर की ओर आकर अपनी दृष्टि गुफा के चारों तरफ दौड़ायी। तब भी यात्री पंचतरणी के रास्ते आ-जा रहे थे। गुफा में भी २५-३० यात्री तब रहे होंगे। बाँयीं तरफ लगभग १० फुट अन्दर पहाड़ से लगे हुए हिम के दो पिण्ड और थे, जिन्हें गणेशपीठ और पार्वतीपीठ के नाम से पुकारते हैं। मान्यता है कि यह पार्वतीपीठ ५१ शक्तिपीठों में से है, जहाँ पर सती का कण्ठ गिरा था। गुफा के कई स्थानों पर छत से पानी चू रहा था। पर हिम-लिंग अनादिकाल से उसी एक स्थान पर विद्यमान है, यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है, भले ही आकार में वह छोटा-बड़ा होता रहता है।

मैंने सुन रखा था कि गुफा में कबूतर का एक

जोड़ा दिखायी देता है। पर ऐसी कोई बात नहीं थी। उस दिन तीन कबूतर दिखे। उसके पहले दिन ४ कबूतर और २ कौए देखे गये थे। गाइड ने बताया कि पक्षियों की संख्या बदलती रहती है। गाइड से यह भी मालूम हुआ कि काश्मीर के मुसलमान अमरनाथजी को 'बाबा आदम' के नाम से पुकारते हैं और उन पर श्रद्धा रखते हैं। अमरनाथजी की चढ़ोतरी के तीन भाग होते हैं--एक भाग छड़ी मुबारिक मठ वाले पाते हैं, दूसरा भाग उनका पुजारी पाता है और तीसरा भाग मुसलमानों की धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त होता है। सुनकर दो आपात्-विरोधी धर्मों के सामान्य श्रद्धा-केन्द्र अमरनाथजी को मैंने एक बार पुन: प्रणाम किया और गुफा के नीचे उतर आया।

अब चलने में कठिनाई हो रही थी। गाइड के प्रयत्न से मुश्किल से हमें घोड़े मिल सके। बीच में इधर वर्षा हो गयी थी, जिससे भू-स्खलन होकर रास्ता कहीं कहीं बहुत अधिक खराब हो गया था। तब गाइड के कथन का मर्म समझ में आया कि देर होने पर कुछ भी हो सकता है। बहुतसा भाग पैदल ही चलकर आना पड़ा। हम लोग ८ बजे रात को बालटाल पहुँचे और वहाँ से अपनी कार ले १२ बजे रात को श्रीनगर वापस आ गये। जय अमरनाथजी की! हर हर बम् बम्!!

(आकाशवाणी, रायपुर के सौजन्य से)

प्रश्न—'भाग्यो फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्'—महाभारत में महासती कुन्ती के इस उद्गार का औचित्य क्या है? क्या भाग्य की प्रबलता मानव-जीवन में सर्वथा अपेल है?

—प्रेम पाटनवार, बिलासपुर

उत्तर—भाग्य प्रबल तो हुआ करता है, पर जीवन में प्रयत्न का, पुरुषार्थ का भी स्थान है। बल्कि यों कहें, जीवन में आधा हिस्सा यदि भाग्य का रहता है, तो आधा पुरुषार्थ का भी। कुन्ती का जीवन दुर्योगों से भरा हुआ है, अतः स्वाभाविक ही उनके मुख से उपर्युक्त उद्गार निकल पड़ता है। परन्तु यदि हम ध्यान-पूर्वक पाण्डवों के जीवन को देखें, तो उसमें पग पग पर पुरुषार्थ भी कार्यरत दिखायी देता है। उनका पुरुषार्थ ही उन्हें 'लाक्षागृह' में जल मरने से बचाता है, बनवास के समय कौरवों का ग्रास बनने से रक्षा करता है और अन्त में महाभारत-युद्ध के द्वारा उन्हें विजयी बनाता है। यदि हम ऐसा कहने लगें कि 'लाक्षागृह' से उनका बचना अथवा महाभारत युद्ध में उनका जीतना भी भाग्य के ही फलस्वरूप हुआ था, तब तो यह विघातक दृष्टिकोण हो जायगा। तब तो हमारी हर क्रिया ही भाग्य का अनुवर्तन करनेवाली मान ली जायगी। सब कुछ भाग्याधीन हो जायगा। इससे जीवन से कर्म की प्रेरणा लुप्त हो जायगी और मनुष्य सिर

पर हाथ धरे भाग्य के भरोसे बैठा रहेगा। इस धारणा ने ही हमारे देश को आलसी, अकर्मण्य, जड़ और गुलाम बनाया है। इसका सर्वथा परित्याग करना चाहिए और हमें पुरुषार्थी बनना चाहिए। वेदान्त हमें यही बताता है कि हम सर्वशक्तिमान और अजेय हैं। हममें से प्रत्येक में अनन्त शक्ति निहित है, वही ब्रह्म छिपा है। इस छिपी अनन्त शक्ति को प्रकट करना ही वेदान्त की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य है। अपने भीतर की शक्ति को प्रकट करने के लिये भाग्यवादी बननें से काम नहीं चलेगा, उसके लिए पुरुषार्थ चाहिए। वेदान्त भाग्य की बात स्वीकार नहीं करता।

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्णदेव की एक बात याद आती है। एक जिज्ञासु ने उनसे पूछा था कि Destiny (भाग्य), Free Will (इच्छा-स्वातंत्र्य या पुरुषार्थ) और God's Grace (ईश्वर-कृपा) में परस्पर कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं है ? इस प्रश्न का समाधान कोई भी पश्चिमी दर्शन नहीं कर सका, पर श्रीरामकृष्ण अद्भुत समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे एक दृष्टान्त देते हैं। एक चरवाहा अपनी गाय को जंगल में चरानें ले जाता है। एक लम्बी रस्सी से गाय बँधी हुई है। चरवाहा रस्सी को मोड़कर दूसरी तरफ एक पेड़ से बाँध देता है और स्वयं किसी दूसरे वृक्ष की छाँह में लेट जाता है। अब, यह गाय स्वतंत्र भी है, और परतंत्र भी। यदि रस्सी की लम्बाई २५ फुट है, तो गाय २५ फुट के घेरे में घास चरने के लिए स्वतंत्र है; वह चाहे पेड़ से १ फुट दूरी की घास खाये, या २५ फुट दूरी की। पर वह २५ फुट के बाद परतंत्र है। अब गाय अपने घेरे की घास चर लेती है और रँभाती है। चरवाहा देखता है कि गाय ने २५ फुट के घेरे की सारी घास चर ली है, अतः वह आकर रस्सी की लम्बाई को बढ़ा देता है, जिससे गाय अब और भी बड़े घेरे में घास चरनें के लिए स्वतंत्र हो जाती है। पर यदि चरवाहा देखे कि गाय बिना पूरी घास चरे रँभा रही है, तो

वह रस्सी की लम्बाई नहीं बढ़ाता।

चरवाहा मानो ईश्वर का प्रतीक है, गाय जीव की प्रतीक है, और रस्सी की लम्बाई भाग्य की। जीव स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी। एक घेरे के अन्दर वह पुरुषार्थ करने के लिए स्वतंत्र है, भले ही उस घेरे के बाहर वह भाग्य के द्वारा बँधा हो। यदि जीव अपनी मिली स्वतंत्रता के घेरे का पुरुषार्थ के द्वारा सदुपयोग करे, तो ईश्वर अपनी कृपा से उसके स्वतंत्रता के घेरे को बढ़ा देते हैं।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९७४

प्रतिवर्ष की भाँति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में विश्ववन्द्य, प्रातःस्मरणीय स्वामी विवेकानन्दजी का ११२ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में १२ जनवरी १९७४ से लेकर ३ फरवरी १९७४ तक पृष्ठांकित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जा रहा है। कार्यक्रम सबके लिए खुला है, पर टे बच्चों के लिए प्रवेश निषिद्ध है।

कार्यक्रम

★ शनिवार, १२ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में फैलते हुए भ्रष्टाचार के लिए शासन की राष्ट्रीयकरण की नीति कहीं अधिक जिम्मेदार है।"

★ रविवार, १३ जनवरी .. प्रात:काल ८ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ रविवार, १३ जनवरी .. सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"स्वामी विवेकानन्द के सपनों का भारत।"

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

★ सोमवार, १४ जनवरी ★

मंगल-आरती, प्रार्थना, ध्यान .. प्रात: ५॥ से ६॥ बजे तक।

भजन-पाठ, पूजा एवं आरती .. सुबह ९॥ से ११॥ बजे तक।

सान्ध्य आरती और प्रार्थना .. सायंकाल ६ बजे।

★ सोमवार, १४ जनवरी .. सायंकाल ६॥ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"युगाचार्य विवेकानन्द।"

★ मंगलवार, १५ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में धर्म की अपेक्षा भाषा राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने में कहीं अधिक समर्थ है।"

★ बुधवार, १६ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ गुरुवार, १७ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

★ शुक्रवार, १८ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में आज के युग में विज्ञापन लोगों के लाभ की अपेक्षा शोषण का माध्यम कहीं अधिक है।"

★ शनिवार, १९ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"यदि स्वामी विवेकानन्द मेरे गुरु होते।"

★ रविवार, २० जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्‌घाटन

विषय :–"वर्तमान राष्ट्रीय चारित्रिक संकट और स्वामी विवेकानन्द।"

प्रमुख अतिथि : माननीय डा० कर्णसिंह जी
(भूतपूर्व जम्मू-काश्मीर नरेश)
स्वास्थ्य एवं परिवार-नियोजन मंत्री, भारत शासन

★ २१ जनवरी से ३० जनवरी तक.. प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे

रामायण-प्रवचन

प्रवचनकार : पं. रामकिंकरजी महाराज
(भारत-प्रसिद्ध रामायणी)

★ ३१ जनवरी से ३ फरवरी .. प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

विषय :–"मानव-जीवन का लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के उपाय।"

प्रवचनकार : (१) कु० सरोज बाला
(विलक्षण प्रतिभासम्पन्न १७ वर्षीया बालिका)

(२) बालयोगी विष्णु अरोड़ा
(विलक्षण प्रतिभासम्पन्न १० वर्षीय बालक)
(२ एवं ३ फरवरी को)

(३) श्री मोहनलाल पटेल
(प्रतिभासम्पन्न १६ वर्षीय बालक)
(३१ जनवरी और १ फरवरी को)

विषय :–"सांख्य योग और स्वामी विवेकानन्द ।"

(४) स्वामी आत्मानन्द

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन का स्थान – रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिता – त्रैमासिक
३–५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक– स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता – भारतीय
पता – विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
६. स्वत्वाधिकारी – रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ
स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी ओंकारानन्द
स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी चिदात्मानन्द
स्वामी शान्तानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी दयानन्द,
स्वामी सम्बुद्धानन्द, स्वामी पवित्रानन्द स्वामी कैलासानन्द
स्वामी भास्वरानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द
स्वामी आदिदेवानन्द, स्वामी गहनानन्द ।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

(हस्ताक्षर) **स्वामी आत्मानन्द**

❖